ाय सर्वस्व

दीक्षानन्द सरस्वती

॥ ओ३म् ॥

सर्वस्व ग्रन्थमाला का प्रथम कुसुम

स्वाध्याय सर्वस्व

दीक्षानन्द सरस्वती
(आचार्य कृष्ण)

श्रीमद्दयानन्द-निर्वाण-शताब्दी-संस्करण-ग्रन्थ संख्या-१

प्रकाशक :

समर्पणशोध-संस्थान
कार्यालय—आर्यसमाज करौल बाग, नई दिल्ली-५
उपकार्यालय—४/४२ सैक्टर-५, राजेन्द्र नगर
साहिबाबाद (गाजियाबाद उ० प्र०)

श्रीकृष्णजन्माष्टमी
दयानन्दाब्द १६१
विक्रम सम्वत् २०४२
सृष्टि संवत् १,९७,२९,४९,०८६
ईसवी सन् १९८५

मूल्य : छः रुपया

विक्रय केन्द्र :

कार्यालय—समर्पणशोध-संस्थान
आर्यसमाज करौल बाग, नई दिल्ली-५
एवम्
४/४२ सैक्टर-५ राजेन्द्र नगर
साहिबाबाद, (गाजियाबाद उ० प्र०)

मुद्रक :

डिम्पल प्रिण्टर्स, गांधीनगर, दिल्ली-११००३१

॥ ओ३म् ॥

आमुख

नामकरण :

"नहि सर्वः सर्वं जानाति" की उक्ति के होते हुए भी किसी को सर्वस्व नाम देना दुःसाहस मात्र है। फिर स्वाध्याय जैसे विषय पर सब-कुछ लिखना अति दुष्कर है। सञ्जीवनी लेने गये हनुमान की भाँति मैंने भी आमूल स्वाध्याय-संजीवनी लाने का प्रयत्न किया है; इसमें जो भाग जिसके लिए उपयोगी हो, वह लेकर अपने रोग को दूर कर ले। स्वाध्याय के बारे में कोई बात छूटने न पाये, ऐसा यत्न किया गया है। विज्ञ पाठक जब ग्रंथ का आद्योपान्त अनुशीलन करेंगे तो स्वाध्याय से सम्बद्ध सभी प्रश्नों का समाधान पायेंगे। स्वाध्याय की महिमा, स्वाध्याय शब्द का अर्थ, स्वाध्याय के लाभ, आदि पर यथासम्भव प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। बारह वर्ष के दीर्घ प्रचार-सत्र में यह समस्या सदा सामने आती रही है कि आर्यजन परमधर्म का पालन कैसे करें? बस इसी ऊहापोह ने ग्रंथ का यह रूप ले लिया।

'स्वाध्याय सर्वस्व' ग्रन्थ का तृतीय संस्करण :

'स्वाध्याय सर्वस्व' का यह तृतीय संस्करण अब दीक्षानन्द के नाम से प्रकाशित हो रहा है। इस ग्रंथ के पहले दोनों संस्करण आचार्य कृष्ण के नाम से प्रकाशित हुए थे। प्रथम संस्करण का प्रकाशन १९६८ में सार्वदेशिक दशम आर्य महासम्मेलन हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश) के अवसर पर हुआ और दूसरे संस्करण का

प्रकाशन १९७३ में आर्यसमाज-स्थापना और शताब्दी मेरठ (उ०प्र०) सम्मेलन के अवसर पर। अब यह तृतीय संस्करण महर्षि निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर हो रहा है।

'स्वाध्याय सर्वस्व' सर्वस्व-ग्रन्थमाला का प्रथम कुसुम था। १९६८ में जब इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ था, उस समय लेखन के क्षेत्र में मैं सर्वथा नवसिखिया ही था। कुछ भय, कुछ आशंका बनी रहती थी। सदा ही विद्वानों की जाँचरूपी आँच से बचता रहता; न पुस्तक दिखाता, न देता। कुछ दिनों बाद यह झिझक जाती रही, और ग्रंथ को देने-दिखाने का साहस हुआ। फिर क्या था, सभी ओर से प्रशंसा-पत्र आने लगे! किसी ने सराहा, किसी ने सँवारा, किसी ने सँभाला, किसी ने सुझाया, किसी ने संपोषण, किसी ने सम्मोदन और किसी ने साधुवाद दिया।

सर्वप्रथम मैंने 'स्वाध्याय सर्वस्व' ग्रंथ, सामवेद एवं निरुक्त के भाष्यकार, पचास से भी अधिक ग्रंथों के लेखक समादरणीय विद्वद्वरेण्य विद्यामार्तण्ड श्री स्वामी ब्रह्ममुनि जी को सम्मत्यर्थ प्रदान किया। इसपर उनका आशीर्वाद इस रूप में मिला—

आपके द्वारा रचित पुस्तक 'स्वाध्याय सर्वस्व' पढ़ने को मिली, पुस्तक का जैसा नाम है वैसी ही सिद्ध हुई, स्वाध्याय-सम्बन्धी समस्त-ज्ञातव्य बातों का पूर्ण भण्डार कहा जा सकता है। स्वाध्याय परमश्रम है, परमतप है, परमधर्म है, इत्यादि आठ सन्दर्भों में सप्रमाण दर्शाया है, साथ में स्वाध्याय के १६ लाभ भी युक्तमना भवति आदि शास्त्रानुमोदित स्पष्ट किये हैं।

यह एक शास्त्रीय वचनों एवं विचारों का विशद एवं अपूर्व संग्रह-ग्रंथ है। पुस्तक की भाषा भी मनोरम और लुभावनी-सुहावनी है। पुस्तक-रचनार्थ धन्यवाद, सम्पोषण और सम्मोदन है।

—"स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड।"

पाठक मेरी प्रसन्नता का अनुमान लगा सकते हैं कि जब मुझे

यह पत्र मिला होगा मानो मुझपर स्वामी जी महाराज ने आशीर्वादों की वर्षा कर दी हो।

फिर तो मेरा साहस बढ़ गया और जो विद्वान् मिलता उसे सम्मत्यर्थ 'स्वाध्याय सर्वस्व' ग्रंथ अवश्य दे देता। दूसरे विद्वान् शास्त्रार्थ-महारथी श्री अमर स्वामी जी महाराज थे। उन्हें इस लिए अर्पित करना चाहा कि अब तर्क की भट्ठी में पड़कर ग्रंथ के सब दोष दूर हो जाएँगे। उनका पत्र मिला, लिखा था कि—

आपकी लिखो पुस्तक 'स्वाध्याय सर्वस्व' को आद्योपान्त पढ़ा, पुस्तक पढ़कर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ, पुस्तक की एक-एक पंक्ति से आपकी विचारशीलता, स्वाध्यायशीलता तथा परिश्रम का पता चलता है। पुस्तक पढ़ने और मनन करने योग्य है। मैं इस अति सुन्दर निबन्ध लिखने पर आपको धन्यवाद और बधाई देता हूं। इस पुस्तक का घर-घर प्रचार हो ऐसी मेरी कामना है।

—वैदिक धर्म का अमर स्वामी सरस्वती

तीसरा स्थान था श्रीस्वामी विद्यानन्दजी विदेह का। मैं स्वयं वेदसंस्थान जाकर उन्हें देकर आया। मैंने अपनी दोनों पुस्तकें **'स्वाध्यायसर्वस्व'** और **'उपनयन सर्वस्व'** अर्पित करते हुए कहा कि भगवन्, इनपर अपनी सम्मति प्रदान करें। श्री विदेह जी बोले कि अति व्यस्त होने के कारण आपकी पुस्तकों के दो पृष्ठ नियम से पढ़ा करूँगा और पूर्ण होने पर अपनी सम्मति अवश्य दूंगा। सात ही दिन के पश्चात् एक लिफाफा मिला जिसमें लिखा था कि—

"भगवन्! प्रणाम! दिल्ली-मद्रास की लम्बी यात्रा में मैंने आपकी दोनों रचनाएँ एक-साथ पढ़ डालीं, कारण, निश्चय ही सामग्री की सुष्ठुता तथा रोचकता थी। दोनों ही कृतियाँ युग की माँगों को पूरा करती हैं। प्रभु आपको युगद्रष्टा और युगस्रष्टा बनाए!

आपके शानदार भविष्य की कामना करता हुआ एक
विद्यानन्द विदेह २०-१-६९

संन्यासी महानुभावों की सम्मति के पश्चात् वयोवृद्ध, ज्ञान-वृद्ध विद्वद्वर्य श्री पं० विहारीलाल जी शास्त्री का स्थान आता है जो एक प्रकार से वानप्रस्थ का सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनकी सम्मति थी—

"आपके द्वारा रचित दो पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। एक नाम है 'उपनयन सर्वस्व' और दूसरा पुस्तक है **'स्वाध्याय सर्वस्व'**। उक्त दोनों ही पुस्तकों में शास्त्र के सर्वस्व भरे हुए हैं। आपके शास्त्रीय चिन्तन और मनन के परिणाम दो पुस्तक हैं। **'स्वाध्याय सर्वस्व'** को पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति अपना कल्याण कर सकता है। आचार्य कृष्ण जी (स्वामी दीक्षानन्द) शास्त्रीय वचनों की संगति ऐसी लगाते हैं कि शास्त्रीय भाव साक्षात् सामने आ जाते हैं। व्याख्या आपकी हृदयाकर्षिणी है।"

अन्त में एक गृहस्थ विद्वान् श्री पं० मनोहर जी विद्यालङ्कार की सम्मति लिखकर विराम देता हूँ। श्री पं० जी अहर्निश वेद के स्वाध्याय में संलग्न रहते हैं। उन्होंने लिखा कि--

"आचार्य जी की शैली बड़ी सरल, सुबोध तथा सुगमता से ग्रहण होने योग्य है। **स्वाध्याय सर्वस्व** में स्वाध्याय पर वहुत विस्तृत विचार किया है। करीव-करीव स्वाध्याय के सम्वन्ध में सव-कुछ (सर्वस्व) कह दिया है। मेरी सम्मति में आर्य-समाज सदस्यता का प्रार्थनापत्र स्वीकार करने से पूर्व प्रत्येक सदस्य के लिए इस पुस्तक का पढ़ना अनिवार्य होना चाहिए। यदि इस पुस्तक को पढ़ने के वाद सदस्य सदिच्छा से आर्यसमाज के सदस्य बनेंगे तो आर्यसमाज के विवादों में कमी आएगी और उन्नति अवश्य होगी।"

'स्वाध्याय सर्वस्व' ग्रंथ के इस तृतीय संस्करण को जनता-

जनार्दन के हाथों में सौंपते हुए हमें अपार हर्ष है। जहाँ विद्वत्-समाज ने इसकी सराहना की, वहाँ साधारण जनता ने भी इसे अपनाया; ऐसे भी व्यक्ति मिले जिन्होंने कहा कि 'आपकी पुस्तक से प्रेरणा पाकर हमने परिवार में नित्य स्वाध्याय आरंभ कर दिया जिसके परिणामस्वरूप परिवार में सौमनस्य बन गया। स्वाध्याय के निमित्त आपकी दी गई ग्रन्थ-तालिका के अनुसार वर्षभर चलने से हमें कितना लाभ हुआ वह वर्णनातीत है। जहाँ हमारा वेद में प्रवेश हुआ वहाँ हमें अपने महापुरुषों के उदात्त चरित्र का भी पता चला। ऐसा लगा कि हम अपने धर्म-संस्कृति के वातावरण में रह रहे हैं। विनयनगर की एक महिला ने जब मुझे "वैदिक विनय" ग्रन्थ थमाकर कहा कि 'स्वामी जी महाराज, आप इसके ३६५ मन्त्रों में से कोई भी मंत्र पूछकर देखें। मुझे मंत्र ही याद नहीं अपितु उनके अर्थ भी याद हैं।' मेरे पूछने पर जब वह उसमें उत्तीर्ण निकली तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऐसे भी साधक-साधिकाएँ हैं जो इस निष्ठा और आस्था से स्वाध्याय में लगे हैं। मेरे अन्तस् ने कहा कि निराशा की कोई बात नहीं, तुम अपने उद्देश्य में सफल हो। अपना कार्य किये चलो! परिश्रम का फल व्यर्थ नहीं होता। इस विचार से प्रेरित होकर, इस महार्घता में भी पुस्तक के समाप्त होने पर छपवाने का साहस किया है। यदि कुछ व्यक्ति भी इसके अनुसार चलकर तथा नित्य स्वाध्याय में प्रवृत्त होकर अपने जीवन को सफल बना लेते हैं, तो मैं अपने को कृतकृत्य समझूंगा।

—दीक्षानन्द सरस्वती

समर्पण

सर्वस्व ग्रन्थमाला के इस प्रथम कुसुम को प्रस्तुत करते समय यदि मैं अपने श्रद्धेय गुरुवर्य श्री स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज (पूर्वनाम पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार) को भुला दूं तो यह कृतघ्नता होगी। उनके चरणों में बैठकर ही ज्ञान-सर्वस्व पाया है, ज्ञान-प्रसाद पाया है, उसी को अपने निर्बल हाथों से बाँटते हुए हर्ष होता है। इसमें जो कुछ माधुर्य, सरसता और स्नेह है, सब उन्हीं का है; शेष शुष्कता, नीरसता आदि मेरी अपनी है। सर्वस्व-ग्रन्थमाला का यह प्रथम कुसुम उन्हीं को श्रद्धांजलि रूप में समर्पित है।

अनुक्रमणिका

॥ ओ३म् ॥

स्वाध्याय का स्वरूप

श्रम आ-श्रम परम-श्रम

आराम नहीं आश्रम

कुछ वर्ष पहले राष्ट्र में सर्वत्र एक उद्‌घोष सुनाई देता था--"आराम हराम है।" सर्वत्र इसकी सराहना हुई। यह चर्चा का विषय बना। हमने विचार किया कि सचमुच यह नया उद्‌घोष है। हम इस परिणाम पर पहुँचे कि, नहीं, यह कोई नयी खोज नहीं है। हम वैदिकों में आराम का कोई महत्त्व नहीं। इसके विपरीत, श्रम का महत्त्व है। हमारे लिए आराम सदा ही हराम रहा है। इसका प्रमाण हमारी व्यवस्था है। उस व्यवस्था को हम कहते ही आश्रम-व्यवस्था हैं, अर्थात् (वह जीवन-व्यवस्था) जिसमें श्रम ही श्रम है। आश्रम-व्यवस्था के व्यवस्थापकों की दृष्टि में तो 'श्रम' शब्द भी अपर्याप्त था, इसीलिए उसके पूर्व आङ् उपसर्ग लगाकर उन्होंने 'आश्रम' शब्द का निर्माण किया, जिसने श्रम शब्द के महत्त्व को सहस्रगुणित कर दिया है। श्रम नहीं अपितु परिपूर्ण श्रम, सब ओर से श्रम, आश्रम। वर्तमान युग ने तो "आ" को हटाकर श्रम के महत्त्व को ही कम कर दिया है। इसीलिए किसी ने आङ् उपसर्ग का उपयोग राम शब्द से पहले करके आराम का निर्माण कर लिया, अन्यथा आराम का अस्तित्व ही कहाँ होता? न "आ" को श्रम से पृथक् किया जाता न आराम बनता। फिर तो आश्रम-व्यवस्था होती—परिपूर्ण श्रम, सब ओर से श्रम, मुकम्मिल श्रम।

चरैवेति-चरैवेति

वैदिक मनीषियों ने मनुष्य-जीवन के महत्त्व को समझकर ही आश्रम-मर्यादा का निर्माण किया था। उनकी दृष्टि में 'चलते रहने' का नाम ही जीवन था। "चरैवेति-चरैवेति" ही उनका उद्घोष था। आरम्भ से अन्त तक चलना ही चलना तो हो रहा है। जहाँ प्रथम आश्रमी को ब्रह्मचारी कहते थे, वहाँ चतुर्थ आश्रमी को परिव्राट् कहते थे। दोनों ही का काम चलते रहना था। यदि एक का काम ब्रह्म की तलाश में चलना था, तो दूसरे का काम ज्ञात ब्रह्म को लोगों तक पहुँचाने के लिए चलना था। जब तक ब्रह्म की प्राप्ति न हो जाए, चलते रहो—ब्रह्म इष्णन् चरति इति ब्रह्मचारी। और जब ब्रह्म को प्राप्त कर लो तो उसे लोगों तक पहुँचाने के लिए चलते रहो। परिव्रज घर-घर जाकर, परिव्रजन करते हुए ब्रह्म को लोगों तक पहुँचाओ।

आश्रम का महत्त्व

वैदिक संस्कृति में व्यक्ति के जीवन को जिस मर्यादा से अभिहित किया जाता है उसे आश्रम-व्यवस्था कहते हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नाम से इसका विभाजन किया गया है। जीवन की इन चार अवस्थाओं के साथ आश्रम शब्द का प्रयोग ही यह सूचित करने के लिए है कि व्यक्ति का कोई भी क्षण श्रमहीन नहीं बीतना चाहिए। कुमार हो अथवा वृद्ध, युवा हो अथवा प्रौढ़, श्रम तो करना ही होगा। श्रम शब्द से पूर्व जुड़ा हुआ आङ् सामान्यतः मर्यादा और अभिविधि का सूचक होता है। किन्तु यहाँ उसका अभिविधि अर्थ ही हमें अभीष्ट है। अभिविधि का अर्थ यह होता है, जिस संज्ञा के साथ आङ् का प्रयोग होगा उसे आङ् अपने में सम्मिलित करा लेता है। आश्रम शब्द का अर्थ हुआ श्रम को सम्मिलित करके। अब यह बात स्पष्ट हो क

ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थ और संन्यासी सभी आचरण करते हुए यह देखें कि उनके व्यवहार में श्रम सम्मिलित है वा नहीं। यदि सम्मिलित है तो उनका ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, जीवन आश्रम-मय है—अन्यथा आश्रम-शून्य—आश्रम की मूल भावना से शून्य।

यह ज्ञात हो जाने पर कि व्यक्ति को जीवन के हर विभाग में श्रम करना चाहिए, यह जानना आवश्यक है कि ऐसा कौन-सा श्रम है जिसे आचरण में लाकर ही व्यक्ति आश्रम का अधिकारी होता है ? वह कौन-सा श्रम है, जो चारों ही आश्रमियों के लिए समान रूप से कर्त्तव्य हो ? विचार करने पर ज्ञात हुआ कि स्वाध्याय ही वह श्रम है, जिसे सम्मिलित किये बिना व्यक्ति का जीवन आश्रम शब्द से युक्त नहीं किया जा सकता। स्वाध्याय ही वह श्रम है जो सभी आश्रमियों के लिए समान रूप से श्रम है—क्या ब्रह्मचारी के लिए और क्या संन्यासी के लिए। यही वह श्रम है जिसमें अनध्याय नहीं।

"स्वाध्याये नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम्।" (मनु २-१०-६)—स्वाध्याय में छूट नहीं, क्योंकि इसे ब्रह्मसत्र अपि वा ब्रह्मयज्ञ कहा गया है।

संन्यासी सभी काम्य कर्मों का न्यास (त्याग) कर सकता है, परन्तु स्वाध्याय का त्याग नहीं कर सकता—

संन्यसेत् सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत्।
वेदसंन्यासतः शूद्रः तस्माद्वेदं न संन्यसेत्॥ मनु० ६-६५

सभी काम्य कर्मों को त्याग दे, परन्तु वेद को न त्यागे। स्वाध्याय ही ऐसा श्रम है जो चारों आश्रमियों के लिए तुल्य एवं आवश्यक है। स्वाध्याय-श्रम से ही आश्रम शब्द की सार्थकता है।

मनुष्य-जीवन की सार्थकता आश्रम से है।
आश्रम शब्द की सार्थकता स्वाध्याय-श्रम से है।

स्वाध्याय परम श्रम है

स्वाध्याय मात्र श्रम नहीं, परमश्रम है। द्यावापृथिवी में जितने भी श्रम गिनाये जा सकते हैं, उनमें स्वाध्याय उन सभी की पराकाष्ठा है—सीमा है, परला सिरा है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—**ये ह वै के च श्रमाः इमे द्यावापृथिवी अन्तरेण-स्वाध्यायो हैव तेषां परमता काष्ठा** (शतपथ ११-५-७-२) इस द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य जो कोई भी श्रम हैं, स्वाध्याय उन सब की पराकाष्ठा है।

व्यक्ति अपने जीवन-निर्वाह के लिए अनेक प्रकार के श्रम अपनाता है। सभी श्रम करते हुए उसने यदि स्वाध्याय-श्रम नहीं किया, तो सब व्यर्थ है। इसे परम श्रम कहने का आशय भी यही है कि व्यक्ति स्वाध्याय-श्रम को कसौटी बना ले, यदि अन्य श्रम स्वाध्याय में बाधक हों तो उन्हें छोड़ दे, यदि इसके साधक हों तभी उन्हें स्वीकार करे। स्वाध्याय के लिए सामान्य श्रमों का त्याग सम्भव है किन्तु सामान्य श्रम के लिए स्वाध्याय-श्रम का त्याग सम्भव नहीं। स्वाध्याय-श्रम को त्यागकर अन्यत्र श्रम करने का परिणाम क्या होगा ? मनु लिखते हैं—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वम् आशु गच्छति सान्वयः॥

—मनु २-१६८

अर्थात् जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) स्वाध्याय-श्रम न करके अन्यत्र श्रम में जा लगता है वह बहुत शीघ्र ही शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार आपने देखा कि जहाँ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमी के लिए स्वाध्याय-श्रम

विहित है, वहाँ द्विजमात्र के लिए भी स्वाध्याय-श्रम आवश्यक है। श्रम, और श्रम में भी स्वाध्याय-श्रम, वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की नींव है—

यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मणत्व प्राप्त करना चाहे, तो उसके लिए विहित अनेक साधनों में प्राथमिकता स्वाध्याय को ही दी जाती है—

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ मनु० २-२८

स्वाध्याय से, विचार करने-कराने से, होम के अनुष्ठान से, शब्द-अर्थ-सम्बन्धसहित वेद को पढ़ने से, पौर्णमासी आदि इष्टि के करने से, पुत्रोत्पादनादि तथा पंचमहायज्ञों के द्वारा इस शरीर में ब्राह्मण-भाव लाया जा सकता है।

स्वाध्याय परम तप है

जहाँ ब्रह्मचारी के लिए लिखा है कि वह श्रम से जगत् को पालित और पूरित करता है वहाँ यह भी लिखा है कि वह तप से भी लोकों को पालित-पूरित करता है—सर्वान्त्स लोकाँस्तपसापिपर्ति" वह सभी लोकों को अपनी तपस्या से पालित और पूरित करता है। वही क्यों, समाज का प्रत्येक व्यक्ति श्रम और तप से ही लोकों को पालित और पूरित करता है। भगवान् याज्ञवल्क्य और भगवान् मनु दोनों ही स्वाध्याय को परम तप कहते हैं :—

"यदि ह वा अप्यभ्यक्तः अलंकृतः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीत आहैव स नखाग्रेभ्यः 'परम' तप्यते 'तपः'।

—शतपथ ब्राह्मण ११-३-७-४

यद्यपि कोई व्यक्ति सुगन्धित तेल लगाकर और श्रृङ्गार किये हुए अच्छी प्रकार से सुखदायक बिछौनें पर लेटा हुआ भी स्वाध्याय करता है तो समझना चाहिए कि वह चोटी से नाखन के अग्रभाग

तक परमतप कर रहा है। यही बात मनु ने भी कही है—"आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः। यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्" (मनु० २-१६७)—जो द्विज सुगन्धित माला धारण किये हुए भी यथासामर्थ्य प्रतिदिन स्वाध्याय करता है, निश्चय जानो वह नखाग्र-पर्यन्त परमतप कर रहा है।* "वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः। वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते" (मनु० २-१६६)—ब्राह्मण तप करते हुए सदा वेदाभ्यास करे। वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का परम तप है।

स्वाध्याय परम धर्म है

स्वाध्याय के इसी महत्त्व को समझकर वर्तमान युग-प्रवर्त्तक भगवान् दयानन्द ने स्वाध्याय को 'परम धर्म' कहा है। उन्होंने आर्यसमाज के तीसरे उद्देश्य में इसकी स्पष्ट घोषणा की है कि "वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना, और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" वेद का पढ़ना 'स्वाध्याय' और पढ़ाना तथा सुनाना 'प्रवचन' कहलाता है। जिसे भगवान् याज्ञवल्क्य ने परम श्रम, भगवान् मनु ने परम तप कहा है, उसे ही भगवान् दयानन्द ने परम धर्म कहा है। अतः स्वाध्याय परम-श्रम, परम-तप, व परम-धर्म तीनों ही है।

---

*१. तपस्वी पुण्यो भवति य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते—सह०वै० १६

२. तपो हि स्वाध्यायः इत्युत्तमं नाकं रोहति „ „ १८

पञ्चधा वेदाभ्यासः—वेदस्वीकरणं पूर्वं, विचारोऽभ्यसनं जपः।
प्रदानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा।
द० स्मृ० २-३०

श्रुत्यभ्यासः पञ्चधा स्यात् स्वीकारोऽर्थविचारणम्।
अभ्यासश्च तपश्चापि शिष्येभ्यः प्रतिपादनम्॥
स्कन्द [५।(२)५।१४]

प्रसंगात्—

महर्षि दयानन्द के परमधर्म-चतुष्टय में से तीन का—'पढ़ना' का स्वाध्याय में, 'पढ़ाना और सुनाना' का प्रवचन में—समावेश तो धर्म में हो गया, परन्तु 'सुनना' परमधर्म फिर भी छूट गया। इसका अपना ही महत्त्व है। उसका वर्णन यथास्थान (अध्याय ६ में) करेंगे। भगवान् मनु ने भी स्वाध्याय को परमधर्म कहा है—

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं-धर्मम् उपधर्मोऽन्य उच्यते॥ मनु० ४-१४७

सर्वदा आलस्य-रहित होकर, यथावसर वेद ही को पढ़े क्योंकि यह द्विज का परम धर्म है, और दूसरे धर्म इससे नीचे हैं।

स्वाध्याय परम श्रम है। स्वाध्याय परम तप है। स्वाध्याय परम धर्म है। इसलिये स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए—**तस्मात् स्वाध्यायो ऽध्येतव्यः।** (शत० ११-३-७-४)।

स्वाध्याय परम स्कन्ध है

छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि ने धर्म-रूपी वृक्ष के स्कन्धों का वर्णन करते हुए स्वाध्याय को प्राथमिकता दी है—**त्रयो धर्म-स्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमम्।** (छान्दोग्य २-२३-१) धर्म के तीन स्कन्ध हैं उनमें से यज्ञ, अध्ययन और दान प्रथम हैं।

स्कन्ध शब्द का अर्थ जहाँ कन्धा है, वहाँ वृक्ष के तने अथवा प्रकाण्ड को भी स्कन्ध कहते हैं। वहीं से सभी शाखा-प्रशाखाएँ फूटती हैं। उसी से पत्र-पुष्प-फल का उद्‌गम होता है। समस्त भार का वहन भी वही करता है। मनुष्य के कन्धे को भी स्कन्ध इसीलिए कहते हैं कि भार ढोने का अवसर आये, तो इन्हें ही आधार बनाया जाता है।

तद्वत् स्वाध्याय वह प्रकाण्ड है जिसमें से अर्थ-कामरूप शाखा-प्रशाखाएँ फूटती हैं, यश-पुण्यरूप पुष्प और फल लगते हैं। जो

व्यक्ति स्वाध्याय-स्कन्ध को अपने जीवन का आधार बनाते हैं उनके परिवार में धर्मानुकूल अर्थ और काम की शाखाएँ फूटती हैं और उनमें यश और पुण्य के पुष्प और फल लगते हैं। इसलिए जहाँ स्वाध्याय परम श्रम है, स्वाध्याय परम तप है, स्वाध्याय परम धर्म है, वहाँ स्वाध्याय परम स्कन्ध भी है। इसलिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए **तस्मात् स्वाध्यायो-ऽध्येतव्यः** (शतपथ ब्राह्मण ११-३-७-४)।

स्वाध्याय परम योग है

भगवान् पतंजलि ने भी इसके महत्त्व को समझा था, इसीलिए उन्होंने योग के यम-नियमादि अष्टांगों में स्वाध्याय की गणना भी की। जहाँ पाँच यमों को सार्वभौम महाव्रत कहा, वहाँ उन्होंने नियमों को उन महाव्रतों के पालन में सहयोगी बताया है **शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः** (यो० सा०पा० २-३२)। स्वाध्याय और योग को परस्पर एक-दूसरे का पूरक बताते हुए व्यासभाष्य में लिखा है—

"स्वाध्यायात् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।"
"स्वाध्याययोग-सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥" यो०द०। व्यक्ति स्वाध्याय के द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध करे, और चित्तवृत्ति-निरोध द्वारा अधीत वस्तु का मनन करे। चित्तवृत्ति-निरोध और स्वाध्याय के मनन से परमात्मा प्रकाशित होता है, और जहाँ परमात्मा प्रकाशित होता है, वहाँ इच्छित दिव्य गुणों की सिद्धि भी स्वतः हो जाती है, जिसका वर्णन महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार किया है, **"स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः"** (यो०द० साधन पाद २-४४) सिद्ध हुए स्वाध्याय से स्वाध्यायशील व्यक्ति को अभीष्ट गुणों (अथवा अभीष्ट गुणवान् विद्वानों) का साक्षात्कार होता है। इष्ट देवता का सम्प्रयोग होने से स्वाध्याय 'परम योग' है।

स्वाध्याय परम यज्ञ है

भगवान् मनु ने—**पंचैताँस्तु महायज्ञान् यथाशक्ति न हापयेत्** 'यथाशक्ति न हापयेत्' लिखकर प्रत्येक गृहस्थ के लिए पंचमहा-यज्ञों का विधान किया है कि कोई गृहस्थ यथासामर्थ्य इन पंच-महायज्ञों को त्यागे नहीं। ये उसके नित्यकर्म हैं। इन पंचमहायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ की प्रधानता है, मुख्यता है। आपस्तम्ब सूत्रकार, शतपथकार और भगवान् मनु स्वाध्याय को ब्रह्मयज्ञ[1] कहते हैं। **ब्रह्मयज्ञो ह वा एष यत् स्वाध्यायः** (आप०ध०सू० १-४-१२-१)।

भगवान् याज्ञवल्क्य ने तो न केवल स्वाध्याय को ब्रह्मयज्ञ कहा है अपितु उन्होंने स्वाध्याय-यज्ञ के भिन्न-भिन्न पात्रों का वर्णन भी किया है। जिस प्रकार अग्निहोत्र में जुहू, चमस, स्रुवा, अवभृथ आदि पात्र होते हैं, तद्वत् स्वाध्याय-यज्ञ के वाणी, मन, आँख आदि आवश्यक अंग भी अग्निहोत्र के पात्रों की भाँति पात्र हैं। उन्होंने लिखा है—**स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहू मन उपभृत्, चक्षुर्ध्रुवा मेधा स्रुवः सत्यम् अवभृथः** (शत०ब्रा० ११-५-६-३-३)।

निश्चय ही स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ है। वाणी इस ब्रह्मयज्ञ की जुहू, है, मन उपभृत् है, चक्षु ध्रुवा है, मेधा स्रुव है और सत्य अवभृथ अर्थात् जिस प्रकार अग्निहोत्र आदि द्रव्ययज्ञों में जुहू, उपभृत् आदि पात्रों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार स्वाध्यायरूपी यज्ञ में जुहू आदि की आवश्यकता है।

१—जुहू क्या है? देवयज्ञ में हवि देने के लिए जुहू की आवश्यकता होती है। जिससे हवि दी जाती है, उसे ही जुहू कहते हैं—**जुहोत्यनया इति जुहूः**। जुहू शब्द "हु दानादानयोः" धातु से बना

---

१. वेदाभ्यासो हि विप्राणां परमं तप उच्यते।
ब्रह्मयज्ञः स विज्ञेयः षडङ्गसहितस्तु यः॥ द० स्मृ० २-२६

है। जुहू वह पात्रविशेष होता है जिससे दान और आदान दोनों ही क्रियायें होती हैं। जहाँ इससे हवि दी जाती है, वहाँ इससे उप-भृत्-पात्र से हवि ली जाती है। यदि जुहू में हवि ली न जाएगी तो अग्निमुख में किसे छोड़ा जाएगा ? इसीलिए जुहू वह चमस है जिससे पहले उपभृत् पात्र से हवि ग्रहण की जाती है और पश्चात् उसे अग्नि में छोड़ा जाता है।

स्वाध्याय-यज्ञ में वाणी जुहू है जिससे ज्ञानरूपी हवि ली जाती है और श्रोता के कानों में उँडेल दी जाती है। वाणी का काम भी जुहू का ही काम है—एक जगह से लेना, दूसरी जगह छोड़ देना। एक से आदान और दूसरे में दान। वाणी मनरूपी उपभृत् में से हवि का आदान करके श्रोताओं के श्रवण-पात्र में उसका दान कर देती है। इस आदान और दान-क्रिया के कारण वाणी स्वाध्याय-यज्ञ की जुहू कहलाती है।

२—यज्ञ का वह पात्र जिसमें से चमस डुबोकर हवि भर लेते हैं अथवा जो हवि का भरण किये रहता है उसे उपभृत् कहते हैं।

स्वाध्याय-यज्ञ में मन उपभृत् है। मन वह उपभृत् पात्र है जिसमें चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानदुग्ध भरती रहती हैं—उपेत्य भरन्त्यस्मिन्निति उपभृत्। उपदेष्टा वाणीरूपी जुहू द्वारा मन-उपभृत् में से ज्ञान-रूपी दुग्ध भरता रहता है—उपेत्य भरत्यस्माद् इति उपभृत्। इस प्रकार स्वाध्याय-यज्ञ में वाणी जुहू है, मन उप-भृत् है।

३—स्वाध्याय-यज्ञ में वाणी जुहू है, मन उपभृत् है, चक्षु ध्रुवा है। वाणी ज्ञानरूपी हवि के दानादान का साधन है, मन हवि को भरण करने का, चक्षु हवि को ध्रुवा रखने का। चक्षु स्वाध्याय-यज्ञ की ध्रुवा है। स्वाध्याय-यज्ञ में चक्षु ध्रुवा है। तभी मन और वाणी अपना-अपना कार्य कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। उसकी ध्रुवता पर ही तो सम्पूर्ण स्वाध्याय-यज्ञ ध्रुव रह सकता है।

स्वाध्याय-यज्ञ में अध्ययन, मनन, निदिध्यासन तत्त्वत्रय में अध्ययन सर्वप्रथम है। अध्ययन के पश्चात् ही मनन और निदिध्यासन सम्भव है। इसी अध्ययन का साधन चक्षु है। जो चक्षुहीन है वह श्रोता बन सकता है, अध्येता नहीं बन सकता। अध्येता बनने के लिए चक्षु आवश्यक है, ध्रुव है—चक्षु की ध्रुवता पर ही अध्ययन की ध्रुवता है। जैसे-जैसे चक्षु-इन्द्रिय शब्दों और वाक्यों को ग्रहण किये जाता है, वैसे-वैसे मनरूपी उपभृत् मनन और निदिध्यासन द्वारा ज्ञान का भरण किये जाता है। इसके बाद वाणीरूपी जुहू उसी ज्ञान को लोगों तक पहुँचाती है। स्वाध्याय-यज्ञ की आधारशिला, यज्ञ की ध्रुवा चक्षु है।

४—अग्निहोत्रादि यज्ञों में स्रुव वह पात्र है जिसमें एक नहीं अनेक आहुति-भाग एक-एक करके इकट्ठे किये जाते हैं और फिर एक बार आहुति बनाकर छोड़ दिये जाते हैं, अर्थात् चमस से एक-एक मन्त्र द्वारा दिये जाने वाला आहुति-भाग पहले स्रुव में छोड़ा जाता है और फिर पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार संगृहीत पूर्ण हवि को अग्नि में छोड़ देते हैं।

स्वाध्याय-यज्ञ में मेधा स्रुव है। वैसे तो मेधा वह पात्र है जिसमें इन्द्रियरूपी चमस अपनी हवि डालते हैं—चक्षु रूप-हवि, श्रोत्र शब्द-हवि, नासिका गन्ध-हवि, रसना रस-हवि, त्वचा स्पर्श-हवि। मेधा इस समस्त हवि-समूह को वाणीरूपी जुहू के हवाले कर देता है कि इसका विसर्जन कर दो। बुद्धि को मेधा कहने का प्रयोजन भी यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपनी-अपनी हवि लाकर कहती हैं कि मेरी धारणा करो, मेधा ! मेरी धारणा करो।

स्वाध्याय-यज्ञ में तो केवल चक्षु द्वारा लायी हुई हवि को ही मेधा धारण करती है। जैसे-जैसे आँखें शब्दों को पढ़ती जाती हैं वैसे-वैसे मेधारूपी स्रुव उसे धारण किये जाता है। यदि शब्द का

अर्थ नहीं आया तो मेधा स्रुव थोड़ा रुककर श्रवणेन्द्रिय द्वारा किसी से सुने हुए अर्थ को ग्रहण करता है अथवा आँखें उस शब्द से व्यवहृत होने वाले अर्थ को देखने के लिए बाधित होती हैं और अन्ततः उस अर्थ को ले जाकर कहती हैं मेधा ! लो, मेरी हवि को धारण करो—ऐसा कहने पर मेधा उसे भी संगृहीत कर लेती है। पुनः शब्द का अर्थ से क्या सम्बन्ध है? मन द्वारा मनन होने पर ही मेधा उसे यथावत् संगृहीत करती है। फिर वह शब्द-रूप, अर्थ-रूप, सम्बन्ध-रूप, विविध हवि को अर्थात् शब्द-अर्थ-सम्बन्ध-सहित ज्ञान को संगृहीत करती है। मेधा को स्रुव कहने का प्रयोजन भी यही है कि भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्रस्रवित होकर इस तक आता है, सब प्रवाह इसी की ओर स्रवित होते हैं।

५—दीक्षित व्यक्ति को यज्ञ की समाप्ति पर स्नान कराया जाता है, जिसे अवभृथ कहते हैं। स्वाध्याय-यज्ञ में अवभृथ क्या है? स्वाध्याय-यज्ञ में जहाँ जुहू, उपभृत्, ध्रुवा और स्रुवा पात्र प्रयोग में आते हैं, वहीं उसकी समाप्ति पर दीक्षित व्यक्ति का स्नान भी होना चाहिए। बस शतपथकार ने सत्य को अवभृथ-स्नान कहा है। सत्य ही वह जल है जिसमें स्वाध्याय-यज्ञ में दीक्षित स्नान करता है। इसमें स्नान करके ही वह निष्णात होता है, स्नातक बनता है, ज्ञान-सरोवर में डूबा पूर्ण-तृप्त, पूर्ण-काम। स्वाध्याय-यज्ञ का परिणाम ही होता है, सत्य। इसीलिए व्यक्ति उस सत्य में नहाकर निहाल हो जाता है। यही उसका अवभृथ है—परम शुद्धि एवं परम भरण है।

इस प्रकार स्वाध्याय परम श्रम है, परम तप है, परम धर्म है, परम स्कन्ध है, परम योग है और परम यज्ञ भी है।

स्वाध्याय परम रस है

'रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति—रस को प्राप्त करके

साधक आनन्दी हो जाता है। उपनिषद्‌कार ने जिस रस की ओर निर्देश किया है, वह कोई सांसारिक रस नहीं है। वह परम रस, रसों का रस स्वयं भगवान् है; अथवा भक्ति का ग्रानन्द-रस ही वह रस है, जिसका पान करके वह आनन्दी हो जाता है।

यह तो हुई अलौकिक रस की बात, परन्तु हम लौकिक रसों की बात कह रहे थे। वह भी उसके ही तुल्य है और लौकिक रसों में तो भक्ति परम रस है। परमानन्द रस से यदि किसी की तुलना की जा सकती है, तो यह स्वाध्याय-रस ही है जिसे पान करके व्यक्ति आत्म-विभोर हो जाता है, ग्रानन्दी हो जाता है। यह कैसा आश्चर्य है, एक लौकिक रस को प्राप्त करके आनन्दी हो जाता है! कदाचित् उसे लौकिक कहना भूल है; वह अलौकिक ही है—क्योंकि उसका तो उद्‌गम ही लोक से नहीं अलोक से होता है जिसके लिए वेद में लिखा है "अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः" वह परमात्मा रस से परिपूर्ण है, कहीं से ऊना नहीं है। उस परम में से लिया गया रस लौकिक कैसे हो सकता है? वह भी अलौकिक ही है। जिसके लिए स्वयं वेद में लिखा है कि उस परम रस को आदिसृष्टि में ऋषियों ने संभृत किया। उस संभृत रस का जो अध्ययन करता है उसे नाना प्रकार की धाराएँ मिलती हैं। **पावमानीर्यो ग्रध्येत्यृषिभिः संभृतं रसं। तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्** ॥ ऋक् ९-६७-३२ ॥

जो व्यक्ति अग्नि-वायु आदि ऋषियों द्वारा एकात्मना धारित वेद को ग्रधिकृत रूप से ग्रहण करता है, अध्ययन करता है, उसे अनेकों लौकिक रस प्राप्त होते हैं।

भिन्न-भिन्न कक्षाओं के रस भी भिन्न-भिन्न हैं। पाकशास्त्र में मधुर, अम्ल, लवणादि षड्‌रस हैं, तो साहित्य में शृंगार ग्रादि (वात्सल्य को मिलाकर) दस रस हैं, जिन्हें साहित्यिक लोग ब्रह्मानन्द का सहोदर मानते हैं। साहित्य के क्षेत्र में शृंगारादि

रस हैं, परन्तु वे भी ऐसे रस हैं, जिनसे व्यक्ति की पूर्ण तृप्ति नहीं होती, वह अतृप्त ही रहता है। कोई ऐसा रस होना चाहिए जिसे पीकर पूर्ण तृप्त हुआ जा सके। जिसमें नहाकर निष्णात हो जाएँ वही एक एव रस, वेद है, अध्ययन है, स्वाध्याय है। स्वाध्याय-रस का पान करनेवाले जानते हैं कि यह वाणी का विषय नहीं, अनुभव का विषय है—**स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।**

एषां भूतानां पृथिवी रसा। पृथिव्या आपो रसः। अपाम् ओषधयो रसः। ओषधीनां पुरुषो रसः। पुरुषस्य वाग् रसः। वाचः ऋग्रसः। ऋचः साम रसः। साम्न उद्गीथो रसः। उपनिषद् के इस वाक्य में उद्गीथ को अन्तिम रस कहा है। उद्गीथ जिसका रस है वे ऋग्वेदादि ग्रन्थ भी वाणीरूपिणी सरस्वती के रस हैं। ऋग्वेदादि ग्रन्थों के स्वाध्याय-रस का पान करके ही व्यक्ति आनन्दी होता है। यही वह रस है जिसे पाकर व्यक्ति जागतिक रसों से हट सकता है। अन्यथा जागतिक रस व्यक्ति को व्यथित करते हैं। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।** निराहार देही के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनके प्रति लगाव, उनकी चाह, उनका रस बना रहता है। उसकी निवृत्ति परमरस का पान करके ही होती है। यहाँ गीताकार को परम से परमात्मा ही अभीष्ट है। परन्तु यदि परमात्मा द्वारा प्रदत्त ज्ञान को परम मान लिया जाय, तो कोई हानि नहीं। बस, अधीती उस रस का तैराक हो जाता है। उसमें अबाध गति पा लेता है। 'अध्येति' का यही भाव है। इस स्वाध्याय-रस के कारण ही वाणी सरस्वती कहलाती है। इस तरह स्वाध्याय परम श्रम है, परम तप है, परम धर्म है, परम स्कन्ध है, परम योग है, परम यज्ञ है और परम रस भी, इसलिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

स्वाध्याय परम दीक्षा है :

वैदिक धर्म में दीक्षा का बहुत महत्त्व है। किसी भी यज्ञ के आरम्भ में व्यक्ति जहाँ व्रत ग्रहण करता है वहाँ यज्ञ के अन्त में दीक्षा ग्रहण करता है। वेदारम्भ में जहाँ ब्रह्मचारी **"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि"** मन्त्र पढ़कर व्रत ग्रहण करता है वहाँ समावर्तन संस्कार में दीक्षा ग्रहण करता है। उस समय आचार्य उसे जो उप-देश देता है उसमें सबसे अधिक बल स्वाध्याय में प्रमाद न करने के बारे में दिया गया है। आचार्य कहता है, **स्वाध्यायन्मा प्रमदः। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।**

हे ब्रह्मचारिन् ! स्वाध्याय से कभी प्रमाद न करना, स्वाध्याय और प्रवचन में कभी प्रमाद न करना।

इसके अतिरिक्त जहाँ वहिर्वित्त के समर्पण का नाम दक्षिणा है, वहाँ अन्तर्वित्त के समर्पण का नाम दीक्षा है। व्यक्ति का जितना भी अन्तर्वित्त है—उसका हृदय, उसका चित्त, उसका मन, उसका अहंकार, इस सभी अन्तर्वित्त को स्वाध्याय के लिए सम-पित करना स्वाध्याय-दीक्षा है। नवस्नातक को आचार्य अन्तिम उपदेश देते हुए जहाँ सत्य, धर्म, लोकव्यवहार, अग्निहोत्रादि नित्य कर्मों में भूति (सुखों) के साधन धनादि की प्राप्ति में प्रमाद न करने की बात कहते हैं, वहाँ स्वाध्याय में प्रमाद न करने की बात दो बार कहते हैं। इसलिए स्वाध्याय परम दीक्षा है। **स्वाध्यायो वाव दीक्षा।**

स्वाध्याय परम श्रम है, परम तप है, परम धर्म है, परम योग है, परम स्कन्ध है, परम यज्ञ है, परम रस है और परम दीक्षा है। अतः स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए, तस्मात् स्वाध्यायो अध्ये-तव्यः।

●●

स्वाध्याय का स्वरूप (२)

जिस स्वाध्याय को भगवान् याज्ञवल्क्य परम श्रम, राजर्षि मनु परम तप, महर्षि दयानन्द परम धर्म, मुनिवर पतंजलि परम योग, उपनिषद्कार परम स्कन्ध और परम दीक्षा, शतपथकार परम यज्ञ तथा भगवती श्रुति परम रस कहते हैं, जिसकी महिमा का गान करते हुए शास्त्रकार नहीं अघाते और जो प्रत्येक आश्रमस्थ व्यक्ति के लिए पालनीय और द्विजों के लिए आचरणीय है, उस स्वाध्याय शब्द का मूल अर्थ क्या है ? स्वाध्याय से हम क्या समझें ? इस शब्द की रचना किस प्रकार हुई है ? उसमें धातु क्या है, उपसर्ग क्या हैं ? इत्यादि परिज्ञान होना आवश्यक है।

स्वाध्याय शब्द सु+आङ्+अधि पूर्वक इङ्-अध्ययने धातु से घञ् प्रत्यय करके बनता है। इसके विशद अर्थ को समझने के लिए इसमें प्रयुक्त धातु, उपसर्ग और प्रत्यय के अर्थ को समझना होगा। इसमें नित्य अधि उपसर्गपूर्वक इङ् धातु का प्रयोग है, जिसका अर्थ अध्ययन ही है। इङ् अध्ययने, अर्थात् इङ् धातु के अर्थ अध्ययन में भी 'अधि' उपसर्ग लगा हुआ है। इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि अध्ययन अर्थ केवल इङ् धातु का नहीं, अपितु अधि-पूर्वक इङ् धातु का है, अन्यथा इङ् अध्ययने रूप न होकर इङ् अयने रूप होना चाहिए था। धातु और अर्थ दोनों से अधि उपसर्ग को हटाया कि दोनों का मूल रूप सामने आ गया, धातु का इङ् रूप और अर्थ का अयन रूप।

अर्थ के मूल रूप अयन को समझ लेने के पश्चात् अब देखें कि अधि उपसर्ग के बल से अयन का अर्थ अध्ययन कैसे हो गया? यहाँ हम नैरुक्त प्रक्रिया का आश्रय लेकर ही अध्ययन शब्द का अर्थ निर्धारित करते हैं। किसी भी ग्रंथ के अध्ययन का अभिप्राय यह है कि अध्येता की ग्रंथ में अबाध गति का होना। यदि वह पाठ करने लगे तो अबाधगति से करे। यदि अर्थ करने लगे तो बेरोक चलता जाए। उसका आशय समझने में भी उसकी बुद्धि कुण्ठित न हो। हमारे इस अर्थ की पुष्टि 'पारंगत' शब्द से होती है। जब कोई व्यक्ति अपनी विद्या का पूर्ण जानकार होता है, तो यही कहा जाता है कि वह उसका पारंगत है अर्थात् उस व्यक्ति को अपने विषय में परले सिरे तक गति है। जब कोई अध्यापक पाठ्य ग्रंथ को पढ़ाते समय उसके अध्याय, पृष्ठ और पंक्ति तक का पता बता देते हैं, तो सहसा मुख से निकलता है कि इनकी इस ग्रंथ में बड़ी गति है। 'अध्ययन' का अर्थ हुआ किसी विषय में (आद्योपान्त) अबाध गति—अधि=पारं=अबाध। पारं-गति। हमारे इस अर्थ की पुष्टि धातु के मूलार्थ 'अयन' से होती है।

अयन का शब्दार्थ

अयन शब्द का अर्थ समझने के लिए हमें अधिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। सूर्य की दो प्रसिद्ध गतियों को अयन नाम दिया जाता है, दक्षिण अयन और उत्तर अयन, सूर्य का दक्षिण और उत्तर की ओर प्रवेश। बस अध्ययन का भी यही अर्थ है कि 'अध्येता की वह अबाध गति जिससे वह अपने विषय में पारंगत' अथवा 'वह प्रवेश जिससे वह ग्रंथ में आद्योपान्त हो जाय, चलता चला जाए' अयन कहलाएगा। अयन और आय में केवल प्रत्यय का भेद है, अर्थ-भेद नहीं—स्वध्ययन, स्वाध्याय।

हमारे अर्थ की सम्पुष्टि एक और बात से भी होती है। जहाँ

अध्याय शब्द में गत्यर्थक अय धातु का प्रयोग है, वहाँ इङ् अध्ययने धातु के अतिरिक्त एक और धातु इण् गतौ धातु भी है, जिससे 'अय' शब्द बनता है, अध्याय में भी इण् गतौ धातु मानने से यह समस्या हल हो जाती है। फिर गति का अर्थ केवल चलना ही नहीं अपितु गतेस्त्रयो अर्थाः-ज्ञानम्, गमनम्, प्राप्तिश्चेति। अब अध्याय शब्द को गत्यर्थक अय गतौ अथवा इण् गतौ धातु से निष्पन्न मानने पर यह अर्थ स्पष्ट हुआ कि स्वाध्याय वह प्रक्रिया है जिसमें (सु) उत्तमतया (आ) प्रत्यक्ष द्वारा (अधि) अधिकृत रूप से (अयः) प्रवेश, उसका ज्ञान, उसके प्रति प्रगति, और उसकी प्राप्ति सम्भव हो।

पुनश्च—आगम शब्द वेदादि शास्त्रों के लिए प्रयुक्त होता है। इन्हें आगम इसीलिए कहते हैं कि ये स्वाध्यायशील व्यक्ति के समीप स्वतः चले आते हैं। जैसे-जैसे वह शास्त्रों के अध्ययन में लगता है वैसे-वैसे ज्ञान उसके समीप चला आता है, अथवा इन्हें आगम कहने का दूसरा प्रयोजन यह भी हो सकता है कि स्वाध्यायशील व्यक्ति का अन्तिम गन्तव्य ये आगम ही हैं, वेद ही हैं। वह उसके गन्तव्य की सीमा है, ज्ञान की अथवा आप्ति की परा सीमा है। इस प्रकार आगम, निगम, अवगम आदि शब्दों में गमन अर्थ वाली गम् धातु का प्रयोग होने से और इन प्रयोगों को देखने से यह निश्चय हुआ कि अध्याय शब्द में गत्यर्थक अय अथवा इण गतौ धातु भी असम्भव नहीं।

तत्र च—निगम शब्द का प्रयोग वेद के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। आचार्य यास्क ने तो अपने निरुक्त ग्रन्थ में इत्यपि निगमो भवति की यत्रतत्र झड़ी लगा दी है। इसमें भी उसी गम् धातु का ही प्रयोग है। अतः अध्ययन शब्द में गत्यर्थक धातु खोजनी चाहिए। यहाँ आचार्य यास्क के सिद्धान्त न संस्कारमाद्रियेत (निरुक्त २-१-१) का आश्रय श्रेयस्कर है। यास्क का भाव यह

है कि निर्वचन करते समय व्याकरण द्वारा होने वाले शब्द-संस्कार की चिन्ता न करें, यह न सोचें कि यह शब्द व्याकरण से कैसे बनेगा ? बनेगा भी या नहीं ? इस बात की चिन्ता किये बिना ही **अर्थनित्यः परीक्षेत** (निरु० २-१-१) अर्थ को मुख्य मानकर निर्वचन का कोई भी मार्ग निकाल लें। जिस मार्ग से अपेक्षित अर्थ प्राप्त हो सकता हो उसके अनुसार निर्वचन कर लें। यहाँ हमें अध्याय शब्द का यह अर्थ अभीष्ट है कि "अध्येता की किसी भी ग्रंथ में आदि से अन्त तक अबाध गति होना।"

अध्याय का अर्थ

आद्योपान्त वह प्रवाह जो पठन, मनन और निदिध्यासन को अखण्ड रखे; जहाँ पाठक के दृष्टि-पथ में शब्द-वाक्य आते जायें, वहाँ उनका अर्थ भी उद्बुद्ध होता जाए और साथ ही साथ निदिध्यासन भी चलता चले (उसमें कहीं रुकावट न हो)। पाठक की दृष्टि कहीं शब्दार्थ की अनभिज्ञता से रुक न जाए। शब्द का अर्थ से क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न के निदिध्यासन में लगी बुद्धि कुंठित न हो जाए (अर्थात् ग्रंथाध्ययन में जहाँ आँखें अविराम बढ़ें, वहाँ मन और मस्तिष्क भी अविराम बढ़ें)। बस इस गति-प्रवाह को,(सरस्वती) गति को ही हम अयः कहेंगे। पढ़नेवालों का इस गति पर अधिकार हो, तभी वह अध्याय (अधि—आ—अयः) कहलायेगा, स्वाध्याय कहलायेगा।

अब इसी 'अध्याय' शब्द में अन्य दो उपसर्गों के जोड़ देने से स्वाध्याय बन जायेगा। दो उपसर्ग हैं सु और आङ् अर्थात् सु+आङ्+अधि+इण् गतौ धातु से णिच् तथा ल्युट् प्रत्यय होकर स्वाध्याय शब्द निष्पन्न होगा, जिसका अर्थ होगा '**सुष्ठु आवृत्य अध्यायः स्वाध्यायः**, (सु) उत्तम रीति से (आ) आद्योपान्त (अधि) अधिकृत रूप से (इण्) पहुँच, अर्थात् स्वाध्यायशील

व्यक्ति का उत्तमता से (ग्रंथ के) आरम्भ से अन्त तक अधिकार-पूर्वक प्रवेश का नाम स्वाध्याय है।

आचार्य यास्क उपसर्गों का अर्थ लिखते हुए सु उपसर्ग का अर्थ करते हैं **सु इत्यभिपूजितार्थे**। जिस किसी पद से पूर्व 'सु' उपसर्ग जुड़ जाता है उस पद के अर्थ में पूजा-बुद्धि पैदा कर देता है। सभी उस वस्तु को सम्मान की दृष्टि से देखने लगते हैं। सुमति का अर्थ है ऐसी बुद्धि जिसमें सभी व्यक्ति पूजाभाव, आदरभाव रखते हैं। बस स्वाध्याय शब्द में भी 'सु' उपसर्ग का यही अर्थ है कि ऐसा अध्ययन जो सबसे पूजित और सम्मानित हो।

'सु' के अनन्तर आङ् उपसर्ग का भी महत्त्व है। आङ् उपसर्ग के बहुत-से अर्थ होते हैं। एक अर्थ है समन्तात्—सब ओर से। यदि स्वाध्याय में सु+आङ् में 'आङ्' का 'सब ओर से' अर्थ करें, तो स्वाध्याय का अर्थ हुआ कि ग्रन्थ का ऐसा पाठ जिसमें कोई भाग छूटने न पाये। स्वाध्याय करनेवाला जहाँ उत्तमता के साथ अध्ययन करे, वहाँ विषय पर सब ओर दृष्टिपात करे। प्रायः देखा गया है कि व्यक्ति पूरी पुस्तक पढ़ गया, परन्तु उसे लेखक के नाम तक का पता नहीं। इसी प्रकार किसी ने पुस्तक तो सारी पढ़ ली, परन्तु उसकी भूमिका पढ़ी ही नहीं। वह अध्ययन हो तो हो, स्वाध्याय नहीं है।

आङ् का एक और अर्थ सीमा भी है 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' —मर्यादा और अभिविधि अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है। मर्यादा और अभिविधि में यही अन्तर है कि जहाँ मर्यादा अर्थ में प्रयुक्त आङ् संपृक्त अर्थ को सम्मिलित नहीं करता, वहाँ, अभि-विधि अर्थ में प्रयुक्त आङ् अपने से सम्पृक्त अर्थ को सम्मिलित कर लेता है, यथा महाकवि कालिदास द्वारा रघुवंशियों का वर्णन करते हुए यह लिखना कि **आसमुद्रक्षितीशानाम्** अर्थात् समुद्र-सहित पृथिवी के स्वामी रघुओं का। यहाँ समुद्र से पूर्व प्रयुक्त

आङ् उपसर्ग अभिविधि का द्योतक है कि समुद्रसहित पृथिवी के स्वामियों का। इसी प्रकार स्वाध्याय में सु+आङ् पूर्वक अध्याय शब्द का अर्थ होगा अध्याय को, वेद को सम्मिलित करके पठन स्वाध्याय है।

स्वाध्याय से क्या अभिप्राय लिया जाय ? क्या हर किसी ग्रन्थ को पढ़ लेना स्वाध्याय है ? नहीं, सर्वथा नहीं। जब तक अध्ययन में वेद सम्मिलित न हो तब तक वह स्वाध्याय नहीं। वेद को सम्मिलित करके किया गया अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाएगा। आङ् उपसर्ग के अभिविधि अर्थ का महत्त्व भी यही है कि अध्याय को, वेद को सम्मिलित करके पढ़ने का नाम स्वाध्याय है।

अध्याय शब्द वेद का वाचक है

स्वाध्याय शब्द में प्रयुक्त "**अध्याय**" शब्द वेद का वाचक है। आचार्य यास्क जहाँ कहीं भी लौकिक और वैदिक इस प्रकार दो भेद करते हैं, वहाँ लौकिक के लिए भाषा शब्द का और वेद के लिए **अध्याय** शब्द का प्रयोग करते हैं। निपातों का लोक और वेद में प्रयोग दिखाते हुए लिखते हैं—"**तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। इवेति भाषायां च अन्वध्यायं च।**" चार (निपात) उपमार्थ में प्रयुक्त होते हैं। इव यह (निपात) भाषा में अर्थात् लोक में भी और 'अध्याये इति अन्वध्याय' अर्थात् वेद में भी उपमार्थ में प्रयुक्त होता है इत्यादि। यहाँ अन्वध्यायम् में आये अध्याय शब्द का अर्थ वेद मान लिया जाए, तो वह अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाएगा जिसमें वेद सम्मिलित हो। उत्तमतया सब ओर से वेदसहित अधिकृत अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाएगा। सु+आ +अध्याय (वेद) सुष्ठुतया आवृत्य वेदः स्वाध्यायः।

याज्ञिकों में उपाकर्म का बड़ा महत्त्व है, जिसे आजकल श्रावणी उपाकर्म कहने लगे हैं। श्रावणी शब्द का प्रयोग तो इस-

लिए किया जाने लगा कि उपाकर्म विधि श्रावण की पूर्णिमा से अथवा श्रावण मास की पंचमी से की जाती है। उपाकर्म का मूल अर्थ है—उद्घाटन करना या आरम्भ करना। इस शब्द से यह तो प्रकट हो गया कि किसी कर्म का आरम्भ उपाकर्म है। परन्तु किसका ? अतः इसे स्पष्ट करने के लिए उपाकर्म को आश्वलायन गृह्य सूत्रकार ने और पारस्कर गृह्य सूत्रकार ने क्रमशः अध्यायोपाकरण या अध्यायोपाकर्म नाम दे दिये। यहाँ अध्याय शब्द का अर्थ सिवाय वेद के और क्या हो सकता है ? आश्वलायन गृह्यसूत्र के ३-५-१ पर नारायण ने उपाकरण के विषय में लिखा है—**अध्ययनमध्यायस्तस्योपाकरणं प्रारम्भो येन कर्मणा तदध्यायोपाकरणम्।** याज्ञवल्क्य १-१४२ पर मिताक्षरा में लिखा है—**अधीयन्ते इत्यध्याया वेदास्तेषामुपाकर्म उपक्रमम् इति।** यहाँ तो स्पष्ट ही अध्याय शब्द का अर्थ वेद किया है। अतः प्रमाणित हुआ कि अध्याय शब्द का अर्थ वेद है, तो स्वाध्याय का निर्वचन दो प्रकार से होगा—

(१) सुष्ठु आवृत्य अध्यायः वेदाध्ययनम् स्वाध्यायः।
उत्तमता के साथ, हर पार्श्व से वेदाध्ययन ही स्वाध्याय है।

(२) सुकृताय आवृत्य अध्यायोऽधीतिः स्वाध्यायः।
सुकृत अर्थात् पुण्य के लिए हर पार्श्व से, वेदाध्ययन ही स्वाध्याय है।

यदि स्वाध्याय शब्द का विग्रह **"स्वस्य अध्यायः=स्वाध्यायः"** ऐसा करें तो इसका अर्थ होगा, अपना अध्ययन, अर्थात् अपने-आपका अध्ययन, आत्म-निरीक्षण, आत्म-चिन्तन। यह अर्थ प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित नहीं है और न यहाँ उसका स्थान ही है। इसके लिए हम पृथक् ही 'चिन्तन सर्वस्व' नामक लघु पुस्तिका लिखने का विचार रखते हैं। यहाँ तो **"स्वस्य अध्यायः=स्वा-**

ध्यायः" में अध्याय शब्द का अर्थ वेद करने के प्रसंग में यह आशय निकालना अभीष्ट है कि वेद को अपना बना लेना स्वाध्याय है, अथवा ऋग्वेदी, यजुर्वेदी आदि उपाधिधारी व्यक्ति परम्परया ऋगादि वेदों को अपना बना लें, तब वह स्वाध्याय कहलाएगा। अधीयत इति अध्यायः वेदः, स्वस्य अध्यायः स्वाध्यायः, स्व-परम्परागत शाखेत्यर्थः।"

यहाँ तक निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो गईं

क. (१) स्वाध्याय परम श्रम है।
(२) स्वाध्याय परम तप है।
(३) स्वाध्याय परम धर्म है।
(४) स्वाध्याय परम स्कन्ध है।
(५) स्वाध्याय परम योग है।
(६) स्वाध्याय परम यज्ञ है।
(७) स्वाध्याय परम रस है।
(८) स्वाध्याय परम दीक्षा है।

ख. (९) अध्याय शब्द का मूल अर्थ है पाठ्य ग्रंथ में व्यक्ति की अबाध गति होना।
(१०) अध्याय शब्द का परमार्थ वेद है।

ग. (११) स्वाध्याय शब्द का अर्थ उत्तमता के साथ हर पार्श्व से वेद में अबाध गति।

अक्षम्य अपराध

हम ऊपर मनु, याज्ञवल्क्य, आदि के प्रमाण से लिख आये हैं कि स्वाध्याय में अनध्याय नहीं होना चाहिए। इसमें छूट नहीं, इसमें नागा नहीं। आचार्य दीक्षान्त-भाषण में सावधान करते हुए कहता है कि स्वाध्याय और प्रवचन में कभी प्रमाद न करना

चाहिए। प्रिय स्नातक, अब तुम गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होओगे। सम्भवतः प्रमाद-वश तुमसे कुछ भूलें हों, परन्तु ध्यान रखना कि स्वाध्याय में कभी प्रमाद न आने पाये। इसमें प्रमाद करने का बड़ा भयंकर परिणाम होगा।

शतपथकार लिखते हैं कि इसमें नागा करने से उतने ही भयंकर परिणाम सम्भव हैं जितने कि इस सृष्टि में अग्नि, वायु, जल, सूर्य, चन्द्रमा नक्षत्रादि के अपना-अपना कार्य छोड़ देने से सम्भव हैं। क्या कभी इन्हें अपने व्रत में नागा करते देखा-सुना है? ये निरन्तर व्रतनिष्ठ रहते हैं। शतपथकार लिखते हैं –

यन्ति वा आपः। एत्यादित्यः। एति चन्द्रमा। यन्ति नक्षत्राणि। यथा ह वा एता देवता नेयुर् न कुर्युः एव तदहर्ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाऽधीते। तस्मात्स्वाध्यायो ऽध्येतव्यः। (शतपथ ब्राह्मण ११-७-१०)। देखो, ये नदियाँ निरन्तर वहती हैं, रुकती नहीं। सूर्य समय पर उदय होता है। चन्द्रमा नियमित गति से चलता है। समस्त नक्षत्र-मण्डल नियमित चल रहा है, एकनिष्ठ अपने व्रत पर आरूढ़ है। जैसे ये सभी देव यदि कभी रुक जाएँ, नियम भंग कर दें, वैसे ही ब्राह्मण का वह दिन होगा जिस दिन वह स्वाध्याय नियम का भंग कर देगा।

शतपथकार तथा याज्ञवल्क्य तो स्वाध्याय में नागा करने से उतनी ही बड़ी हानि मानते हैं जितनी कि नदियों के रुकने से हानि होने की सम्भावना होती है, जितनी कि सूर्य के अनुदित होने से हानि होने की सम्भावना होती है, जितनी कि चन्द्रमा और नक्षत्र-मण्डल के अपनी चाल छोड़ देने से हानि होने की सम्भावना होती है। जिस दिन ये देवगण अपना व्रत भंगकर ठहर जाएँगे, उस दिन प्रलय हो जाएगा। इसी प्रकार व्यक्ति के स्वाध्याय व्रत को भंग करने का दुष्परिणाम होगा कि परिवार, समाज और राष्ट्र के शील, वृत्त, चरित्र का प्रलय हो जाएगा। यह अक्षम्य अपराध है।

व्रत को अक्षुण्ण रखने के लिए चाहे एक वाक्य मात्र क्यों न हो, उसे ही दोहरा ले, नाग़ा न करे। शतपथकार लिखते हैं—"तस्माद् अपि ऋचं वा गाथां वा कुंव्यां वा अभिव्याहरेत् व्रतस्य अव्य-वच्छेदाय—" श० ब्रा० (११-५-७-१०)। ऋचा ही सही, एक गाथा ही सही, व्रत की अखण्डता के लिए कोई एक श्लोक ही दोहरा ले, परन्तु स्वाध्याय में नाग़ा न आने दे। स्वाध्याय-सत्र की अखण्डता बनी रहनी चाहिए।

आश्वलायन गृह्यसूत्र (३-३-१) ने स्वाध्याय के लिए निम्न ग्रंथों के नाम लिखे हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास एवं पुराण। किन्तु मनोयोगपूर्वक जितना स्वाध्याय किया जा सके उतना ही करे। बस, स्वाध्याय-सत्र को अटूट रखे, उसमें व्यवधान न आने पाये।

शांखायन गृह्यसूत्र (१-४) में ब्रह्मयज्ञ के लिए ऋग्वेद के बहुत-से सूक्तों एवं मंत्रों के पाठ की बात कही है। अन्य गृह्यसूत्रों ने भी शाखा-भेद के अनुसार ब्रह्मयज्ञ के लिए विभिन्न मंत्रों के पाठ व स्वाध्याय की बात कही है। याज्ञवल्क्यस्मृति (१-१०-१) ने लिखा है कि समय एवं योग्यता के अनुसार ब्रह्मयज्ञ में वेदों के साथ इतिहास एवं दर्शनग्रंथ भी पढ़े जा सकते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि वेद के अध्ययन के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों का अध्ययन भी स्वाध्याय है। समय के अनुसार स्वाध्याय के नियमों में शिथिलता लायी गयी और एकमात्र वेदाध्ययन को ही स्वाध्याय न कहकर अन्य ग्रन्थों को भी समाविष्ट कर लिया गया है। यहाँ तक कि उसमें छः वेदाङ्गों, आश्वलायनादि श्रौतसूत्रों, निरुक्त, छन्द, निघण्टु, ज्योतिष, शिक्षा, पाणिनि-व्याकरण के प्रथम सूत्र, याज्ञवल्क्यस्मृति (१-१) के प्रथम श्लोकार्ध, महाभारत (१-१-१) के प्रथम श्लोकार्ध, न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा के प्रथम सूत्र आदि को भी

समाविष्ट कर लिया गया है। इस ढील देने का यही प्रयोजन दीखता है कि किसी भी अवस्था में स्वाध्याय-सत्र की अखण्डता में अन्तर न आने पाये, इसमें व्यवधान न हो।

शतपथकार ने यही बात, स्वाध्याय-यज्ञ को देवयज्ञ का रूप देकर समझाई है। जहाँ उसके वाणी, मन, चक्षु हृदयादि अंगों को जुहू, उपभृत्, ध्रुवा, स्रुव आदि पात्रों की संज्ञाएँ दी हैं, वहाँ उसने ऋग्, यजुः, साम, अथर्वादि ग्रंथों को दूध, घृत, सोम, स्नेह, मधु की आहुतियाँ स्वीकार किया है। जिस प्रकार देवयज्ञ में देवों को तृप्त करने के लिए दूध, घृत, सोमादि पदार्थों की आहुतियाँ देना आवश्यक है, उसी प्रकार स्वाध्याय-यज्ञ में दूध, घृत, सोमादि पदार्थ क्या हैं, जिनकी आहुतियाँ देने से देव तृप्त हो सकते हैं ? तो लिखा है—

पय-आहुतयो वा एता — यद् ऋचः।
आज्य-आहुतयो वा एता — यद् यजूंषि
सोम-आहुतयो वा एता — यत् सामानि
मेद-(स्नेह)-आहुतयो वा एता— यद् अथर्वाङ्गिरस
मधु-आहुतयो वा एता — यद् अनुशासनानि,
विद्या, वाकोवाक्यम्,
इतिहास-पुराणम्-गाथा-
नाराशंसी।
(शतपथ ११-३-४-५)

उपर्युक्त प्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार द्रव्य-यज्ञ में पय, आज्य, सोम, मेद (स्नेह) और मधु की आहुतियाँ देव-तर्पणार्थ दी जाती हैं, उसी प्रकार स्वाध्याय-यज्ञ में ऋग्वेद, यजु-र्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी की आहुतियाँ दी जाती हैं, जिनके देने से देव तृप्त होते हैं। इससे जहाँ यह पता चला कि देवयज्ञ की भाँति

स्वाध्याय भी यज्ञ है, वहाँ यह ज्ञात हो गया कि किन-किन ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिए—ऋगादि चारों वेदों का और अनुशासन (वेदांग) विद्या (सर्पविद्या एवं देवविद्या—छान्दोग्य ७-१-१) वाकोवाक्य (ब्रह्मोद्यनामक धार्मिक वाद-विवाद), इतिहास, पुराण, गाथाएँ, नाराशंसी (व्यक्तिगत आत्मकथाएँ जिसमें नरों का शंसन हो, प्रशंसा हो)।

उपर्युक्त प्रसंग का भी यही आशय है कि जिस प्रकार अग्निहोत्र नैत्यिक कर्त्तव्य है, तद्वत् स्वाध्याय-यज्ञ भी नैत्यिक कर्त्तव्य है। जिस प्रकार देवयज्ञ में प्रतिदिन आहुति-दान आवश्यक है, तद्वत् स्वाध्याय-यज्ञ में भी ऋगादि का अध्ययनरूप पय-आज्यादि आहुति-दान आवश्यक है। इसमें नागा न होना चाहिए। ●●

स्वाध्याय के लाभ

आत्माभ्युदय के लिए

स्वाध्याय से मनुष्य में एक प्रवृत्ति जगती है—अन्तर्मुख होने की प्रवृत्ति। उसके सामने एक और ही दुनिया खुलने लगती है। यहाँ तक कि अन्तर्लोक से बहिर्लोक में लौट आने पर भी 'प्रवृत्ति' तो अब छूट नहीं सकती। अब वह बाहर भी वस्तु की तह तक पहुँचने का यत्न करेगा। इस प्रकार स्वाध्याय के दो लाभ हुए: (१) आत्म-बोध, (२) अपनी सीमाओं से विमुक्त होकर लोकोपकार में अभिरति।

आत्मबोध के साथ हम विषय का विवेचन आरम्भ करते हैं। किन्तु यहाँ भी हमारे लिए प्रमाण निजी 'आत्मानुभूति' न होकर याज्ञवल्क्य की परम्परा होगी।

*युक्तमना भवति

व्यक्तियों की सबसे बड़ी एक ही कठिनाई है कि मन एकाग्र

---

* अथातः स्वाध्याय प्रशंसा प्रिये स्वाध्याय प्रवचने भवतो, युक्तमना भवति, अपराधीनोऽहरहरर्थान्साधयते, सुखं स्वपिति, परमचिकित्सक आत्मनो भवति, इन्द्रियसंयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशो लोक-पंक्तिः, प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ॥ ब्राह्मण्यं, प्रतिरूपचर्या, यशो लोकपक्तिं, लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मै-र्ब्राह्मण भुनक्ति, अर्चया च दानेन चाजेयतया चावध्यतया च।

शत० ब्रा० ११-४-१

नहीं हो पाता । जिसे सुनो यही कहते पाओगे कि मन बड़ा चंचल है। एक क्षण को भी नहीं टिकता । यदि यह किसी प्रकार काबू ग्रा जाए, तो समस्त कार्य सिद्ध हो जाएँ। गीता ६-३४ में अर्जुन ने भी अपनी कठिनाई को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

हे श्रीकृष्ण ! मन अत्यन्त चंचल है। इन्द्रियों को मथ देने वाला अत्यन्त वलवान् और दृढ़ है। उसका निग्रह वैसा ही दुष्कर है, जिस प्रकार वायु का निग्रह। अर्थात् सव सफलताओं की सफलता, सव योगों का योग मनोनिग्रह है। शतपथकार स्वाध्याय के लाभों में सर्वप्रथम लाभ मनोनिग्रह ही वताते हैं। उन्होंने लिखा है कि स्वाध्याय से सर्वप्रथम व्यक्ति "युक्तमना भवति" समाहित मन वाला हो जाता है, स्थिरचित्त हो जाता है।

जिसे गीताकार ने स्थितप्रज्ञ कहा है, उसे शतपथकार ने युक्तमना कहा है। वास्तव में देखा जाए, तो स्थित शब्द की अपेक्षा 'युक्त' शब्द अधिक महत्त्वपूर्ण जँचता है, क्योंकि स्थित शब्द में तो किसी वस्तु के ठहर जाने का भाव अन्तर्निहित है, किसी चीज का ठहर जाना, रुक जाना, उत्तम नहीं; जितना कि उसका किसी उद्दिष्ट लक्ष्य की ओर जुड़ जाना। इसीलिए मन को रोकने की अपेक्षा, यह अधिक उपयुक्त है कि उसे अच्छी दिशा में जोड़ दिया जाय। स्थित मन का अर्थ तो हुआ ठहरा हुआ मन, जिसे दमन द्वारा रोक लिया है, (ग्रव वह बुराई में नहीं जाता ठीक है) परन्तु जब तक उसे अच्छे काम में युक्त न कर दोगे, जोड़ न दोगे, तव तक यही भय रहेगा कि कहीं यह पुनः बुराई में न जा लगे। जो युक्तमना नहीं उसका योग कभी सिद्ध नहीं हो सकता। वास्तव में प्रत्येक बात में युक्त होना ही योग है

और ऐसा व्यक्ति ही योगी है। श्रीकृष्ण ने तो कहा ही है, "युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा ॥" (गीता ६-१७)

युक्त आहार-विहार वाले का, कर्म में युक्त चेष्टाशील का सोने-जागने में युक्त व्यक्ति का योग ही समस्त दुःखों का हरने वाला होता है। जो व्यक्ति युक्तमना नहीं, वह आहार-विहार में युक्त नहीं हो सकता; क्या कभी सम्भव है कि वह कर्म में युक्त चेष्टा वाला हो? उसका तो सोना-जागना तक भी युक्त नहीं हो सकता। इसीलिए शतपथकार सब लाभों का लाभ, सब सिद्धियों की सिद्धि, सब सुखों का सुख युक्त-मन को ही मानते हैं। स्वाध्याय से प्राप्त फल की घोषणा करते हुए कहा "युक्तमना भवति"।

जिसका मन अयुक्त है उसका तो कुछ भी नहीं। गीता में कहा है—"नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना। न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्" (गीता २-६६)। अयुक्त व्यक्ति की बुद्धि ही ठिकाने नहीं रहती और न अयुक्त की कोई भावना ही होती है, न संकल्प ही बन पाता है। भावना नहीं तो शान्ति कहाँ? शान्ति नहीं तो सुख भी कहाँ? उसका तो सभी कुछ जाता रहता है। इसलिए स्वाध्याय का कोई अन्य फल आपको मिले वा न मिले, मन को युक्त करने का अभ्यास तो होता ही है।

अपराधीनो भवति

स्वाध्याय का दूसरा फल यह होता है कि मनुष्य पराधीन नहीं रहता, स्वाधीन हो जाता है। वह किसी भी प्रकार की गुलामी सहन नहीं कर सकता, दासता उसे असह्य हो जाती है।

दासता के जुए को वह शीघ्रातिशीघ्र अपने कन्धे से उतारकर फेंक देता है, स्वाध्याय से उसे इतना विवेक तो हो ही जाता है।

अधीन शब्द का अर्थ है स्वामी के अधिगत होना—इनं प्रभु अधिगतः अधीनः और ऐसे व्यक्ति के स्वामित्व को स्वीकार कर लेना जो सर्वथा पर है, पराया है—पराधीनता कहलाती है। स्वाध्यायशील व्यक्ति, क्या आध्यात्मिक, क्या राष्ट्रीय और क्या सामाजिक,—किसी प्रकार की अधीनता स्वीकार नहीं करता। परवश होना तो वह जानता ही नहीं, क्योंकि वह इसे दुःख मानता है, स्वभावतः अनात्मसत्ता के अधीन वह नहीं रह सकता। वह जानता है कि मैं चेतन हूँ अतः किसी जड़ तत्त्व की अधीनता स्वीकार नहीं कर सकता। वह इन्द्रियों के रूप, रस, गन्धादि विषयों के हाथों का खिलौना नहीं रहता, प्रत्युत उन्हें वह अपनी इच्छा पर चलाता और नचाता है। प्रकृति उसके हाथ का खिलौना होती है—पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि जड़ शक्तियाँ उसका लोहा मानती हैं। स्वाध्याय से जब यह बोध हो जाता है कि मैं अमर हूँ, उस अवस्था में तो, और तो और, मृत्यु भी हाथ बाँधे आज्ञा-पालनार्थ खड़ी रहती है।

इसी प्रकार जब वह राष्ट्रीयता के क्षेत्र में उतरता है, तो विदेशी शासन की सत्ता को स्वीकार नहीं करता और उस जुए को उतार फेंकता है। वह किसी भी प्रकार की पराधीनता बरदाश्त नहीं कर सकता। वह जान लेता है कि "सर्वं परवशं दुःखम्", "सर्वात्मवशं सुखम्" परवश होना दुःख है और आत्मवश होना सुख है। अतः स्वाध्यायशील व्यक्ति—"अपराधीनो भवति"।

अहरहरर्थान् साधयते

स्वाध्याय के लाभ बताते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य तीसरा

लाभ "अर्थ लाभ" बताते हैं। सांसारिक साधारण व्यक्ति हर बात में सौदेबाजी करता है। लाभों में भी पैसे के लाभ को ही सच्चा लाभ मानता है। वह कहता है कि जिसमें चार पैसे का लाभ न हुआ वह भी कोई सौदा है? ऐसे व्यक्ति के लिए भी इसमें गुंजाइश है कि स्वाध्यायशील व्यक्ति को अर्थलाभ भी होता है। "अहरहरर्थान् साधयते" दिनों-दिन वह अर्थों की सिद्धि करता है।

परन्तु यहाँ अर्थ से अभिप्राय केवल स्थूल अर्थ ही न लेना चाहिए। वह भी एक अर्थ हो सकता है, परन्तु शतपथकार को जो वस्तु यहाँ अभीष्ट है, वह तो स्पष्ट ही (स्वाध्याय में आये हुए) किसी भी शब्द के पीछे जो-जो गहन अर्थ है उसकी सिद्धि कर लेना है।

स्वाध्यायशील व्यक्ति का विवेक-सामर्थ्य इतना बढ़ जाता है कि वह शब्द की गहराई में जाकर उस अर्थ को निकाल लाता है जिसकी सामान्य व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर सकता। उसको वेद में आया हुआ "अश्व" शब्द केवल घोड़े का वाचक नहीं दीखता, अपितु राष्ट्र, काल, क्षत्र, इत्यादि का वाचक दीखने लगता है। उसके लिए "गौ" शब्द साधारण पशुमात्र का वाचक न दीखकर वाणी, किरण, पृथिवी, गतिशील पदार्थों का भी ज्ञापक दीखता है।

निरुक्तकार भगवान् यास्क ने इसीलिए अर्थ का महत्त्व दर्शाते हुए कहा है कि जो व्यक्ति वेद को केवल घोकता-मात्र है, उसके अर्थ को नहीं जानता, वह मूढ़ है; "यथा खरश्चन्दनभारवाही" जैसे गधा चन्दन का बोझ उठाए फिरता है, वैसे ही वह व्यक्ति है, जो अर्थ तो जानता नहीं और वेद के ग्रन्थ उठाए-उठाए फिरता है, वेद के दर्शनमात्र करके ही खैर मान लेता है। इसके विपरीत जो अर्थज्ञ है, वह समस्त कल्याणों का उपयोग करता है। वह ज्ञान से समस्त मलों को धोकर आनन्दधाम को प्राप्त करता है। यास्क

का वह स्वर्णिम वचन लिखने योग्य है—"**स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानात्यर्थम्।**" "**योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।**" (निरुक्त १—६)[1]

अतः यहाँ स्वाध्याय के तृतीय फल, स्थूल अर्थलाभ न होकर किसी शब्द के आन्तर अर्थ को जान लेना अर्थसिद्धि है। यथा कोई व्यक्ति "जल" इस संज्ञा को जानता है, परन्तु उसके अभिधेय पेय, तरल और शीतलत्व गुणवाले पदार्थ को नहीं जानता तो वह भारहार है, निर्जीव संज्ञा को उठाए फिरता है। किन्तु वह संज्ञा-ज्ञान उसकी प्यास नहीं बुझा सकता, क्योंकि जल शब्द को सहस्र बार कहने से अथवा लिख लेने से प्यास नहीं बुझती, जब तक कि मूर्त जल उसके सम्मुख नहीं आ जाता। इसी लिए तो यास्क कहते हैं कि **योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते** निश्चय जानो कि जो अर्थज्ञ है वही समस्त कल्याणों का उपभोग करता है।

"**अहरहरर्थान् साधयते**" में जहाँ उक्त भाव हैं वहाँ अर्थ से एक अन्य अभिप्राय भी है और वह है शब्दादि विषय। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पाँचों ही विषय अर्थ कहाते हैं। "**प्रार्थ्यंते इति अर्थः**" प्राणी द्वारा जिसकी चाहना की जाती है, याचना की जाती है वह अर्थ है। व्यक्ति शब्दादि विषयों की चाह करता है इसलिये ये भी अर्थ हुए। स्वाध्यायशील व्यक्ति दिनों-दिन शब्द आदि विषयों को साध लेता है, संसिद्ध कर लेता है। वह शब्द को संसिद्ध कर लेता है, जिसने 'रेडियो' का अविष्कार किया है। उसने

---

१. स्वाध्यायशब्दं सुपदं स्पष्टवर्णक्रमस्वरम्।

[स्क० २ (२) २२।३३]

नदीहीनमिमं देशं दृष्ट्वा खिद्यति मे मनः।
अर्थावबोधरहितं श्रुतिपाठमिवाधिकम्॥

[स्क० २ (१) ३२।४०]

शब्द विषय को साध लिया, शब्द उसके अधिकार में हो गया। चाहे जब जितना और जैसा उपयोग उनका वह करना चाहता है, कर लेता है। वह शब्द-विषय को अपने हाथ की कठपुतली बना लेता है; स्वयं उसकी कठपुतली नहीं बनता। जिसने 'टेलीवीज़न' ईजाद किया, मानो उसने रूप विषय को संसिद्ध कर लिया। अब रूप उसकी मुट्ठी में है, न कि वह रूप की मुट्ठी में; रूप उसके इशारे पर नाचता है, न कि वह रूप के इशारे पर नाचता है। यह तो हुई जगत् के भौतिक तत्त्वों द्वारा विषयों की संसिद्धि। स्वाध्यायशील व्यक्ति यदि चाहे तो अपनी देह के इन श्रोत्र, चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ही सीधे शब्द-रूपादि विषयों को साध सकता है और यदि इन शब्दादि विषयों की उपलब्धि के लिए उसे स्थूल अर्थ, धन की आवश्यकता होती है तो उसे इनकी भी उपलब्धि हो जाती है, परन्तु यह अर्थसिद्धि है नगण्य। इसलिए मनु ने कहा भी है—**सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।**" (मनु०) मनुष्य को चाहिए कि उन समस्त अर्थों को त्याग दे जो स्वाध्याय के विरोधी हैं। यह विचार ले कि मैं ऐसा कोई अर्थलाभ न करूँ जो स्वाध्याय की ओर मुझे प्रवृत्त ही न होने दे, उसके लिए समय ही न निकल पाए। यदि ऐसा हो तो ऐसे अर्थ को, ऐसी वृत्ति को, ऐसी आजीविका को छोड़ दे।

सुखं स्वपिति

स्वाध्यायशील व्यक्ति को लाभ ही लाभ हैं। एक लाभ तो ऐसा बताया कि उसे सुनकर हर व्यक्ति को स्वाध्याय की इच्छा होगी। वह है चौथा लाभ "सुखं स्वपिति" स्वाध्यायशील व्यक्ति चैन की नींद सोता है।

संसार के अनेकों सुख हैं, परन्तु नींद से बढ़कर अन्य सांसारिक सुख नहीं। इसके लिए सम्पत्तिशील व्यक्ति पैसा बहाते देखे

गये, यह कहते सुने गये हैं कि कोई दो घड़ी चैन की नींद दे दे, हमें सोने की ओषधि दे दे। लोग इस सोने के लिए सोने की अशर-फिएँ लुटाते देखे गये, परन्तु हा ! हतभाग्य को नींद कहाँ ? सारी रात करवटें वदलते गुजरती है। उसके भाग्य में नींद कहाँ ? सोना (धन) है, पर सोना (नींद) नहीं।

आचार्य चरक शरीर के आधारस्तम्भों का वर्णन करते हुए कहते हैं, **"अथ खलु त्रय उपस्तम्भाः। आहारः, स्वप्नो, ब्रह्मचर्यम्"** इस शरीर के तीन आधारस्तम्भ हैं—भोजन, निद्रा और ब्रह्मचर्य। दूसरा स्थान इनमें निद्रा का है। स्वास्थ्य का मुख्य आधार भी तो यही तीनों हैं। शायद 'स्वस्थ' और 'स्वप्न' दोनों शब्दों का मूलत: अर्थ एक ही हो। स्व में स्थित होना स्वस्थ है तो स्व को पा लेना स्वप्न है। **स्वमाप्नोति इति स्वप्नः।** जो स्वस्थ है उसे वढ़िया नींद आएगी, और जिसे स्वप्न = नींद अच्छी आएगी वह स्वस्थ होगा। स्वप्न का यहाँ अर्थ सपना नहीं है। स्वप्न का यहाँ अर्थ अटूट नोंद है जिसमें व्यक्ति अपनी वास्तविक दशा में होता है। जब इन्द्रियाँ और शरीर के अवयव थक जाते हैं, तो वे अपने-अपने स्थान में बैठ जाते हैं। उनकी बाह्यवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। बस, तव नींद आ जाती है। इसी को स्वप्न कहते हैं। मानो हर किसी इन्द्रिय ने अपने को पा लिया। हर इन्द्रिय ने अपना घर पा लिया और आराम करने चली गई, इसी का निद्रा नाम हो गया। स्वाध्यायशील व्यक्ति **"सुखं स्वपिति"** सुखपूर्वक सोता है, और स्वप्नशील व्यक्ति स्वस्थ होता है। उन्निद्र रोग सवसे भयंकर रोग हैं। जिसको नींद नहीं, उसकी कितनी दयनीय दशा होती है, कभी किसी उन्निद्र रोगी से पूछकर देखिए।

महाराज धृतराष्ट्र ने अपने इसी रोग की दुहाई देकर विदुर से पूछा था कि मुझे नींद नहीं आती। सञ्जय ने मुझे अभी तक महाराज युधिष्ठिर का कोई सन्देश नहीं सुनाया, जिससे मेरे

शरीर का प्रत्येक अंग जल रहा है, और मुझे उन्निद्र रोग हो गया है। मुझ सन्तप्त और जागरण से पीड़ित व्यक्ति के लिए आप कोई कल्याणकर उपदेश दें। इस पर महामति विदुर ने कुछ दोष गिनवाए और सान्त्वनाभरे शब्दों में कहा, "राजन्! कहीं इन दोषों से आप पीड़ित तो नहीं हो? यदि इसमें से एक भी दोष आप में आया हुआ है तो निश्चय जानो आप इस रोग से पीड़ित रहोगे। क्या कहीं अपने से वलवान् के साथ आपका मुकाबिला तो नहीं हो गया है? अथवा आपकी संपत्ति तो छिन नहीं गई? काम ने तो नहीं धर दबाया है? कभी भूले-चूके चोरी की इच्छा तो नहीं की? कहीं पराये धन पर तो गृध्रदृष्टि नहीं जा टिकी? जिनमें ये लक्षण हों प्रायः उन्हीं को उन्निद्र रोग सताता है।" विदुर ने यह स्वर्णिम उक्ति कही—"**अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम्?" हृतस्वं कामनं चौरमाविशन्ति प्रजागरम्? कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टासि नराधिप? कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन् न परितप्यसे?**" (उद्योग पर्व ३३-११-१४)

विदुर द्वारा कहे इन महादोषों का प्रक्षालन स्वाध्यायशील व्यक्ति बहुत आसानी से कर लेता है। फलतः उन्निद्र रोग का कारण हट जाने से अब वास्तविक सुख की नींद सो सकता है।

परमचिकित्सक आत्मनो भवति

स्वाध्याय का पंचम लाभ वताते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि स्वाध्यायी परमचिकित्सक बन जाता है। उसे चिकित्सा सिद्ध हो जाती है। वह अन्यों की चिकित्सा ही नहीं करता अपितु अपने-आपकी चिकित्सा करना जान जाता है। **आत्मनः परमचिकित्सकः भवति**—अपने-आपका परमचिकित्सक बन जाता है। उसे अपने रोगों को झटककर परे हटा देने का अभ्यास हो जाता है। वह त्रि-रोगापनयन का माहिर बन जाता है। वह अपने रोग, उनका

निदान और उनकी औषध सभी कुछ जान जाता है।

वास्तव में कोई भी शारीरिक रोग तभी होता है, जब कि मानसिक रोग हो। इसलिए कहा **आत्मनः**, आत्मा का चिकित्सक हो जाता है। वह रोग के मूल को जानता है और उसे वहीं से उखाड़ फेंकता है। खांसी, जुकाम, ज्वर आदि रोगों का अपनयन तो करता ही है, परन्तु इनके मूल मानसिक रोगादि विकारों की चिकित्सा भी कर सकता है, करता है। उसे किसी डाक्टर के पास जाने की आवश्यकता नहीं रहती। मोहग्रस्त अर्जुन की भाँति अन्य के पास अपनी चिकित्सा कराने नहीं जाता।[1]

"परमचिकित्सक आत्मनो भवति" में एक और भाव भी अन्तर्हित है। **स्वस्य अध्यायः स्वाध्यायः** अपने-अपका अध्ययन भी स्वाध्याय है। प्रायः देखा गया है कि डाक्टर अपना इलाज स्वयं नहीं कर पाते। वे ऐसे घिर जाते हैं कि उन्हें अपनी चिकित्सा समझ नहीं आ पाती, परन्तु स्वाध्यायशील व्यक्ति को यह कमाल हासिल होता है कि वह चाहे अन्य की चिकित्सा नहीं कर पाये, अपनी चिकित्सा वह कर ही लेता है।

इन्द्रियसंयमः भवति

उपर्युक्त पाँच लाभों के अतिरिक्त स्वाध्याय के अनेकों लाभ हैं। उनमें छठा लाभ इन्द्रियसंयम है। आज संसार के सामने यही समस्या है कि व्यक्ति इन्द्रियनिग्रह कैसे करे? इन्द्रियनिग्रह के कृत्रिम उपाय अपनाए जा रहे हैं। स्वाभाविक निग्रह में संसार को विश्वास ही नहीं रहा। परन्तु शतपथकार याज्ञवल्क्य कहते हैं कि स्वाध्याय से स्वाभाविक इन्द्रियसंयम होता है। इन्द्रियों के

---

१. इसके लिए 'आत्मचिन्तन' नामक पुस्तक शीघ्र ही पाठकों के हाथ में आएगी।

वशीकरण से जब और जितना चाहो उपभोग कर सकते हो। इन्द्रियाँ स्वभावतः अपने विषयों में जाती हैं और इसी उपयोग के लिए हैं, परन्तु जैसे ही मर्यादा का उल्लंघन किया कि विषय-ग्रस्त हुईं, बजाय वरदान के अभिशाप सिद्ध हो गयीं। इसलिए सधे हुए घोड़ों की भाँति इनका संयम आवश्यक है—जरा-सा इशारा पाते ही रथवान् के इशारे पर चलें, न कि लगाम तुड़वाकर रथ और रथी को खड्ड में डाल दें और स्वयं भी विनाश को प्राप्त हों।

इन्द्रियसंयम इसलिए आवश्यक है क्योंकि यत्नवान् और मेधावी व्यक्ति की भी इन्द्रियाँ विषयाभिमुख होती हैं, पुरुष को क्षुभित कर देती हैं, व्याकुल बना देती हैं और उसके विवेक-विज्ञान-युक्त मन को भी हर लेती हैं। इसलिए इन्द्रियों को सम्यक्तया वश में करके समाहित-चित्त हो जाए। जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं स्थित-प्रज्ञ भी तो वही होता है। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है, "**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**" जिसकी इन्द्रिएँ वश में हैं उसी की प्रज्ञा अविचल, बुद्धि स्थर होती है। एक भी इन्द्रिय क्षरित होने लगी कि व्यक्ति की प्रज्ञा क्षीण होनी शुरू हुई, ठीक उसी प्रकार कि जैसे मशक में से पानी रिसने पर वह सर्वथा खाली हो जाती है। स्वाध्याय के आठवें लाभ 'प्रज्ञावृद्धिर्भवति' का इससे सीधा सम्बन्ध है। संयम शब्द का अर्थ है वशीकरण, वशित्व, स्वामित्व। इसलिए इन्द्रिय-संयम का अर्थ हुआ इन्द्रियों का वशीकरण, इन्द्रियों पर प्रभुत्व "**हीनाति मिथ्यायोगानां प्रभुत्व संयमः**—चरक।" हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग पर प्रभुत्व प्राप्त करना ही संयम है। किसी भी इन्द्रिय का हीन योग असंयम, और उस पर प्रभुत्व संयम, किसी भी इन्द्रिय का अतियोग असंयम, और उस पर प्रभुत्व संयम; और किसी इन्द्रिय का मिथ्यायोग असंयम और उस पर प्रभुत्व संयम कहाता है।

इस बात को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। आहार के सम्बन्ध में अभक्ष्य मांसादि पदार्थों का सेवन हीनयोग है। भूख से अधिक खा लेना अतियोग है। (बाह्य इन्द्रियों को बलात् रोक-कर) मन के वशीभूत होकर असेवनीय भोजन की कामना करना मिथ्यायोग है। इसी कसौटी पर सभी इन्द्रियों को परखा जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति को वैद्य ने मीठा खाने का निषेध किया है और रोगी (मीठा न खाकर उसकी जगह) खजूर, केला, चीकू जैसी चीजों का सेवन करता है, तो यह हीनयोग होगा; कुछ सेवन की छूट होने पर मर्यादा से अधिक खाना अतियोग; और सर्वथा जिह्वा पर रोक लगाकर मन-ही-मन उसकी कामना करते रहना, मीठे के हर पहलू पर सोचते रहना, उसका रस बने रहना, अर्थात् इस प्रकार सोचना कि जिह्वा से राल टपकने लगे यह मिथ्यायोग है।

इसी प्रकार आँखों से सर्वत्र, प्राणीमात्र को आत्मवत् देखना योग, (स्वात्मवत् न बरतकर) अनात्मवत् बरतना हीनयोग। इसी आत्मवत् दर्शन को सर्पादि हा निकर शत्रुओं में भी बरतना अतियोग, और ऊपर से दिखाने के लिए आत्मवादी और मन से अनात्मवादी होना मिथ्यायोग है। कानों से अश्लील सुनना हीन-योग, रात-दिन सुनना अतियोग, कान बन्द करके भी अश्लील गानों पर विचार करना मिथ्यायोग। इसी प्रकार त्वचा से निषिद्ध स्पर्श हीनयोग, विहित स्पर्श का निरन्तर सेवन करना अतियोग और बाहर से स्पर्श न करते हुए भी स्पर्श का रस बने रहना और मनसा-चिन्तन मिथ्यायोग है। यही नासिका से गन्ध के बारे में हीनातिमिथ्यायोग है। वाणी द्वारा (सत्य परन्तु कठोर अथवा अशिष्ट भाषण) गाली देना हीनयोग, बहुत बोलना अतियोग और विपरीत भाषण मिथ्यायोग, अथवा ऊपर से तो मौन परन्तु मन ही मन में कुढ़ते रहना मिथ्यायोग है।

यही विचार कर्मेन्द्रियों द्वारा है। इसी प्रकार अन्त:करण-वृत्तियों द्वारा हीनातिमिथ्यायोग पर प्रभुत्व संयम कहलाता है। सुनना चाहिए, परन्तु हीनातिमिथ्या श्रवण न करके सुनना योग है। चखना चाहिए, परन्तु हीनातिमिथ्या रसन न करके चखना योग है। अर्थात् स्वाध्याय से व्यक्ति इन्द्रियजित्, इन्द्रियनिग्रही और इन्द्रियसंयमी हो जाता है, अपनी इन्द्रियों का स्वामी, उनका राजा इन्द्र बन जाता है **इन्द्रियसंयमो भवति।**

एकारामता भवति

स्वाध्याय से होनेवाले लाभों में सातवाँ लाभ लिखा है—**एकारामता भवति:** स्वाध्यायशील व्यक्ति को एकारामता प्राप्त होती है। उसे ऐसा आराम प्राप्त होता है जो अद्वितीय हो, जिसकी उपमा न हो, जिसका सानी ढूँढे न मिल सके—ऐसे आराम को एकारामता कहते हैं। आश्रम का फल आराम है और वह भी एकाराम तब समझना चाहिए कि जब व्यक्ति का श्रम सफल हुआ। वैदिक धर्मी के लिए आराम का उतना महत्त्व नहीं जितना कि आश्रम का महत्त्व है। आश्रम-पालन उसका कर्त्तव्य है, आराम की उपलब्धि उसे स्वत: है। वह भी न केवल आराम की, अपितु एकाराम की। श्रम और राम से पहले जुड़े आङ् उपसर्ग ने इनके महत्त्व को सहस्रगुणित कर दिया है। श्रम तो हो, परन्तु पूर्ण श्रम हो। सब ओर से श्रम हो, आश्रम हो। श्रमिक व्यक्ति का प्रत्येक अंग उसमें जुटा हो, उसी अवस्था में श्रम आश्रम कहलाएगा। यदि श्रम में व्यक्ति का हाथ उठे किन्तु मन भारी हो तो समझना चाहिए कि यह आश्रम नहीं। परिपूर्ण राम की कल्पना व्यर्थ है; हाँ, यदि सब ओर से सुख चाहते हो, आराम चाहते हो तो आश्रम करो। इसीलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि निरन्तर स्वाध्याय का फल एकारामता होता है।

आराम शब्द का अर्थ समझने से पहले विराम और उपराम शब्दों की भावना को हृद्गत कर लेना चाहिए। विराम उस चिह्न को कहते हैं जहाँ रुक जाना हो, उससे आगे कुछ न हो। परन्तु आराम उस अवस्था को कहते हैं जिसमें व्यक्ति का हर अंग रम जाए, उसमें इतना मस्त हो जाए कि किसी दूसरी ओर ध्यान भी न जाए। सांसारिक लोग इसे भले ही आराम कहें, हम ऐसी स्थिति को एकाराम न कह सकेंगे, जिससे मन उपराम होकर किसी अन्य स्थिति में आराम अनुभव करे। पहली अवस्था से उपराम हो जाए, खिन्न हो जाए और दूसरे की तलाश बनी रहे तो वह एकाराम-अवस्था नहीं।

हम सांसारिक सुखों में से एक का उदाहरण ले सकते हैं। नींद को समाधि के तुल्य माना गया है। परन्तु इससे भी मन उचाट हो जाता है, और व्यक्ति तब जागरण को पसन्द करने लगता है। एकावस्था नहीं, एकारामता नहीं, व्यक्ति एक करवट से लेटा हो तो यह एकारामता नहीं कहाएगी। एकारामता उस अवस्था का नाम है जिसमें व्यक्ति एक से उपराम होकर अन्य की कामना न करे। यदि निद्रा हो तो एकाराम हो, जागरण हो तो एकाराम हो, किसी विषय का सुख-सेवन हो तो एकारामता से हो। आहार-विहार, सभी में एकारामता आवश्यक है। सबमें एकारामता तभी आ सकती है जब पहले व्यक्ति ने घोर श्रम किया होता है। जब व्यक्ति श्रम से अपने को थका लेता है, तब जो अखण्ड नींद आती है, उससे जो आराम अनुभव करता है, उसे कहते हैं एकारामता। जब सामान्य श्रम तक का यह लाभ है तो परम श्रम (स्वाध्याय) का लाभ एकारामता होनी ही चाहिए।

एकारामता का एक अभिप्राय यह भी है कि व्यक्ति किसी अद्वितीय तत्त्व में ही रमण करे, और वह अद्वितीय तत्त्व सिवाय परमात्मा के और क्या हो सकता है? जिसके लिए वेद ने स्वयं कहा

है—न द्वितीयो (अद्वितीयो) न तृतीयश्चतुर्थोनाप्युच्यते न पंचमो न षष्ठो सप्तमो नाप्युच्यते न अष्टमो न नवमो दशमो चाप्युच्यते; स एष एकवृद् एक एव।" (अथर्व० १३।४) उसके समान दूसरा नहीं, तीसरा नहीं, चौथा नहीं, पाँचवाँ नहीं, छठा नहीं, सातवाँ नहीं, आठवाँ नहीं, नवाँ नहीं, दसवाँ भी नहीं, वह तो एक है, निश्चय से अद्वितीय है—एक ऐसा रस है जो एकवृत् है। अभिप्राय यह कि ऐसे एक में, अद्वितीय तत्त्व में (परमात्मा में) ही रमना वास्तविक एकारामता है। जागतिक सुखों में तो एक से उपराम हुआ और दूसरे की कामना हुई। अभी जिसमें रमता था, जिसे रमणीय समझता था, उससे उपराम हुआ, और अन्य की तलाश आरम्भ कर दी। उसमें एकारामता कहाँ? एकारामता हो भी कैसे? 'एक' में रमने से ही तो एकारामता होगी।

एकारामता में एक अन्य भाव निहित है। आराम शब्द जहाँ उस स्थिति का सूचक है, जहाँ सब ओर से हटकर एक में रम जाना है, पूर्णतया रम जाना है; वहाँ राम शब्द का एक अर्थ खिलाड़ी है। जिस धातु से यह शब्द बना है उसका अर्थ है क्रीड़ा रमु क्रीडायाम्। किसी वस्तु में रमने का अर्थ भी यही है कि उससे खुलकर खेलना। सच्चा खिलाड़ी ही इस सच्चे आराम का लाभ करता है। जैसे सच्चे खिलाड़ी के हाथ में आई गेंद उसके हाथ में नाचती है, उसकी स्टिक पर नाचती है, उसके इशारे पर नाचती है, तद्वत् स्वाध्यायशील व्यक्ति जिस वस्तु में आराम अनुभव करता है वह वस्तु उसके हाथ का खिलौना बन जाती है। स्वाध्यायशील एवं खिलाड़ी के हाथ में परिश्रमी खेल बन जाता है, वह उसके इशारे पर चलता है। अभिप्राय यह कि वह उसे अपने हाथों से खिलाता है, उसके हाथों में नहीं खेलता। सांसारिक सुखों में रमता है, उनसे खेलता है, उनके हाथ की कठपुतली नहीं बनता।

बस, सामान्य व्यक्ति और स्वाध्यायशील व्यक्ति में यही

अन्तर है। स्वाध्यायशील व्यक्ति यह सब जानकर भी अन्ततः उस परम अद्वितीय एक तत्त्व परमात्मा से खेलता है। यदि खिलौना बनता भी है, तो एक उसी के हाथ का खिलौना बनता है। ऐसे खिलाड़ी से खेल ठानता है जो अद्वितीय है, जो केवल एक ही है, जिसके तुल्य कोई नहीं। सामान्य व्यक्ति से खेलना उसे अच्छा नहीं लगता। इस खेल में जो आनन्द है वह सांसारिक खेलों में कहाँ ? कभी उसे अपने हाथों में खिलाता है तो कभी उसके हाथों में खेलता है। दोनों सखा जो ठहरे ! इस सखा के साथ खेलने में जो आनन्द आता है, एक वही अद्वितीय आनन्द होता है, जिसकी तुलना में सांसारिक अन्य सभी सुख फीके पड़ जाते हैं।

प्रज्ञावृद्धिर्भवति

यदि मनुष्य स्वाध्याय-श्रम में जुटा रहे तो उसे जहाँ पहले सात लाभ होते हैं, वहाँ आठवाँ लाभ और संभवतः एक सर्वोपयोगी लाभ होता है प्रज्ञा-वृद्धि। उसे त्रैकालिकी बुद्धि प्राप्त हो जाती है। त्रैकालिकी बुद्धि का ही नाम प्रज्ञा है। इसके सिद्ध हो जाने से सभी सिद्धियाँ आ विराजती हैं। इसके चले जाने से सभी सिद्धियाँ स्वतः विदा हो जाती हैं, अपना आसन उठा लेती हैं। आचार्य चरक ने कितना यथार्थ कहा है, **प्रज्ञापराधो हि मूलं सर्वरोगाणाम्**—प्रज्ञा की भूल ही समस्त रोगों की मूल है। प्रज्ञा गई कि समस्त रोगों ने डेरा जमा लिया। इसलिए व्यक्ति प्रज्ञा को किसी भी कीमत पर न जाने दे। जिसके पास त्रैकालिकी बुद्धि है उसे और क्या चाहिए ? जो अपने भूत, भविष्य और वर्तमान का तत्काल द्रष्टा है, जो अपने भूत पर दृष्टि रखता है उसे अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता, और जो अपने भविष्य पर दृष्टि रखता है—भूत-भविष्य के दोनों परस्पर-विरोधी विपरीतगामी

सिरों को मिलाकर वर्तमान में केन्द्रित कर लेता है, वह व्यक्ति कदापि हानि नहीं उठाता। वह प्राचीनता और नवीनता को मिलाकर चलता है, वह बीते हुए कल और आनेवाले कल को आज के दिन के साथ मिलाकर, संगत करके चलता है। वह 'ह्य' और 'श्व' को नित्य 'अद्य' में मिला लेता है। यही उसकी सफलता का रहस्य है।

इसलिए कहा कि स्वाध्यायशील व्यक्ति को प्रज्ञा, त्रैकालिकी बुद्धि, प्राप्त होती है। प्रज्ञा शब्द ही प्राकृत में पञ्जा और पण्डा हो गये हैं। प्रज्ञा, पञ्जा और पण्डा बुद्धि की ही संज्ञाएँ हैं। वह व्यक्ति पण्डित है जो प्रज्ञावान् है। इसका अभिप्राय हुआ कि स्वाध्यायशील पण्डित बन जाता है। स्वाध्याय से प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है।

इस तथ्य को पुन: महामति चाणक्य ने अपनी मोहर लगाकर प्रमाणित कर दिया है, वे कहते हैं **"श्रुताद्धि प्रज्ञोपजायते, प्रज्ञया योगो, योगादात्मवत्ता इति विद्यासामर्थ्यम्।"** अर्थशास्त्र—**"श्रुतात् श्रवणात् प्रज्ञा उपजायते त्रैकालिकी बुद्धिर् उपजायते।"** स्वाध्याय से प्रज्ञा, त्रैकालिकी बुद्धि उत्पन्न होती है और प्रज्ञा से योग **प्रज्ञया योग; शास्त्रोक्तानुष्ठाने श्रद्धा** प्रज्ञा से शास्त्रविहित अनुष्ठानों में श्रद्धा होती है। कर्म में कुशलता प्राप्त होती है। **योग: कर्मसु कौशलम्** और **योगात् आत्मवत्ता, मनस्विता, सत्ववत्ता, उपजायते।** योग से व्यक्ति को आत्मज्ञान होता है, मनन का सामर्थ्य और सत्त्वलाभ होता है, विद्यासामर्थ्य। ज्यों ही स्वाध्यायी को प्रज्ञा-लाभ हुआ कि उसके साथ लगे हुए सभी लाभ उसे स्वयं मिल गये। प्रथम योगसिद्धि, द्वितीय आत्मलाभ, तृतीय सत्त्वलाभ। भगवान् याज्ञवल्क्य ने प्रज्ञा से होनेवाले लाभों का वर्णन इस प्रकार किया है—**"वर्द्धमाना प्रज्ञा चतुरो धर्मान् (ब्राह्मणम्) अभिनिष्पादयति"**, बढ़ी हुई प्रज्ञा, ब्राह्मण के लिए चार धर्मों को

प्राप्त करा देती है। चार धर्म ये हैं—

१. ब्राह्मण्यम्, २. प्रतिरूपचर्याम्, ३. यशो ४. लोकपक्तिम्।

ब्राह्मण्यम्

आठवें लाभ के अन्तर्गत प्रथम लाभ ब्रह्मण्यता प्राप्त हो जाती है। व्यक्ति को ब्राह्मण-भाव प्राप्त होता है। स्वाध्याय का कोई अन्य लाभ हो न हो, उसे ब्रह्मण्यता की सिद्धि हो जाना ही अपने-आप में एक अति उत्कृष्ट लाभ है। वह शूद्रत्व से निकल-कर ब्राह्मणत्व की कोटि में आ जाता है। उसे अग्रता प्राप्त होती है, वह मुखवत् सर्वत्र मुखिया माना जाता है। हर व्यक्ति उसे मुखवत् समझता है और यही आशा करता है कि यह मेरी कहेगा, मेरी वाणी बनेगा और मेरी आवाज बनेगा।

जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति ब्राह्मण को अपना मुख समझेगा तो अपने हाथ में आई भोज्य, पेय, चोष्य, लेह्य, आहुतियाँ भी उसी में डालेगा। स्वाध्यायशील व्यक्ति में ब्रह्मण्यता आ जाने का यही अर्थ है कि वह सभी का अग्रसर, सभी का पूज्य, वन्दनीय और नमस्करणीय हो जाता है। उसमें जो निजी गुण हैं उनका तो कहना ही क्या, उनके अतिरिक्त ब्रह्मण्यता का होना—सर्वभूत-हितकामना, सर्वदुःखानुभूति, संवेदनशीलता, परोपकारिता, स्वार्थत्याग, परमतपस्विता आदि गुण उसमें अनायास आ विराजते हैं।

प्रतिरूपचर्याम्

स्वाध्यायशील व्यक्ति को प्रज्ञालाभ के अन्तर्गत जहाँ ब्रह्मण्यता प्राप्त होती है, वहाँ प्रतिरूपचर्या की भी सिद्धि हो जाती है। जो भी आचरण वह अपनाता है उसमें वह प्रतिमूर्त्त हो जाता है, उसकी प्रतिकृति बन जाता है, लोगों के लिए मिसाल बन जाता है।

अन्य व्यक्ति अपने आचरण-सुधार के लिए कहीं मिसाल ढूँढना चाहते हैं तो उस स्वाध्यायशील पड़ोसी में वे गुण साक्षात् मूर्तिमान् नजर आते हैं। यदि वे चाहते हैं कि हम दयालु बनें, तो उन्हें उस व्यक्ति में दयालुता प्रतिरूप दृष्टिगोचर होती है। यदि वे उदारता अपनाना चाहते हैं, तो वे उस व्यक्ति में प्रत्यक्ष देखते हैं। अर्थात् स्वाध्यायशील व्यक्ति वह दर्पण है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति हर सद्‌गुण की प्रतिकृति (छाया) देख सकता है। फिर तो—**"स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।"** जिसे वह अपने आचरणचिह्न से प्रमाणित कर देता है संसार उसका अनुकरण करने लगता है।

यश

स्वाध्याय से होने वाले इन दस लाभों के अतिरिक्त ग्यारहवाँ लाभ यशप्राप्ति है **"यशो भवति"**। व्यक्ति की कामनाओं में यश की कामना बड़ी बलवती है, यहाँ तक देखा गया है कि व्यक्ति सब-कुछ दाँव पर लगाकर नाम की रक्षा करना चाहता है। नाम अमर हो जाए, तन रहे न रहे, धन रहे न रहे। याज्ञवल्क्य कहते हैं स्वाध्याय से यश की प्राप्ति भी होती है।

शास्त्रकार कहते हैं कि संसार में जिसकी कीर्ति है वही जीवित है—**कीर्तिर्यस्य स जीवति**—जिसका नाम लोगों की जिह्वा पर संशब्दित है, उनके मुख से मुखरित है, लोगों की जुबान पर विद्यमान है, वह व्यक्ति जीवित है, अमर है।

लेकिन इससे पहले कि किसी की कीर्ति हो, उसका नाम लोगों की जिह्वा पर संशब्दित हो, मुख से मुखरित हो, यह आवश्यक है कि उसका नाम लोगों के हृदय पर छा जाए। नाम का जिह्वा से संशब्दित होना कीर्ति है; और हृदय पर छा जाना, व्याप जाना यश है। कीर्ति से पहले यश का लाभ आवश्यक है।

यश-लाभ के बिना कीर्तिलाभ असम्भव है।

जब तक नाम हृदयों में घर न कर ले, तब तक, वह लोक-वाणी पर कैसे आ सकता है? इसीलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि स्वाध्यायशील व्यक्ति लोगों के दिलों में घर कर लेता है। उसका यश होता है, उसका पुण्यगन्ध इतना फैल जाता है कि अनायास ही वह लोकहृदय पर अधिकार कर लेता है। उद्यान में खिले हुए पुष्प की भाँति उसका पुण्यगन्ध दिग्दिगन्त में फैल जाता है, अनायास लोगों के हृदय पर अधिकार कर लेता है। जैसे व्यक्ति दीर्घ श्वास लेकर पुण्यगन्ध को अन्दर भर लेना चाहते हैं, तद्वत् यशस्वी व्यक्ति के पुण्यगन्ध को भी लोग अपने हृदय में भर लेना चाहते हैं, यही उसका यशोलाभ है। इसीलिए कहा—**यशो भवति** उसका यश-विस्तार होता है; पहले उसका आचरण दिलों पर व्याप जाता है, फिर उसका नाम जिह्वा से संशब्दित होता है। परन्तु व्यक्ति इतने लाभ से ही संतुष्ट नहीं रहता, वह कुछ और भी चाहता है।

लोकपक्ति

एषणात्रय में लोकैषणा, अन्तिम एषणा है और कदाचित् व्यक्ति पहली दो एषणाओं, पुत्रैषणा और वित्तैषणा पर विजय पा ले, परन्तु लोकैषणा पर विजय पा सकना अत्यन्त कठिन है। यह एषणा तो बड़े से बड़े महात्माओं में भी देखी जाती है। इससे तो कोई विरला ही अछूता रह सकता है, यद्यपि इससे अलिप्त व्यक्ति को ही सचमुच अलिप्त कहा जा सकता है। परन्तु जिसे इसका लाभ ही नहीं हुआ, यदि वह कहे कि मैं अलिप्त हूँ तो ऐसा कथन एक विडम्बनामात्र है। इसलिए पहले उसे पाना, पश्चात् उसका छोड़ना ही श्रेयस्कर है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि स्वाध्यायशील व्यक्ति की यह एषणा भी स्वभावतः पूर्ण हो जाती

है। लोकपक्तिर्भवति—उसका लोक-परिपाक हो जाता है। उसे लोकसिद्धि हस्तगत हो जाती है।

लोकपक्ति का विशद अर्थ

लोकपक्ति शब्द का विशद अर्थ क्या है? इसे दिखाने से पहले इस पर कुछ निवेदन करना आवश्यक है। लोक-एषणा का अर्थ सामान्यतया यही लिया जाता है कि व्यक्ति से यश की कामना अभी नहीं छूटी है। वह नाम चाहता है। यदि यही अर्थ अभीष्ट होता, तो स्वाध्याय-लाभों का वर्णन करते हुए ठीक इससे पहला लाभ यश-लाभ कहा है, **प्रज्ञावृद्धिर्यशो लोकपक्तिः** ऐसा क्यों कि स्वाध्यायशील व्यक्ति की प्रज्ञावृद्धि होती है, उसका यश होता है, और उसका लोक-परिपाक होता है?

अब विचारना चाहिए कि यदि लोकैषणा में आए लोक शब्द का अर्थ यश अथवा कीर्ति है तो यहाँ यश शब्द को अलग लिखने की क्या आवश्यकता थी? अथवा यूँ समझें कि दोनों का उद्देश्य भिन्न-भिन्न है। यदि नहीं तो दोनों में से एक शब्द अवश्य ही निरर्थक है। परन्तु ऐसा नहीं, यशोलाभ का ही अगला फल होता है लोक-परिपाक। जहाँ यश हृदय का विषय है, जहाँ कीर्ति वाणी का विषय है, वहाँ 'लोक' आँखों का विषय है। जिसके यश वा कीर्ति आँखों से प्रत्यक्ष नहीं हो गए उसका 'अभी लोक-परिपाक नहीं हुआ' समझना चाहिए, क्योंकि कीर्ति तो कान का विषय है—लोग गुणानुवाद गाते हैं, उसके कानों तक प्रशंसा शब्द पहुँचते हैं। व्यक्ति चाहता है कि जो मेरे गीत गाते हैं वे कौन लोग हैं, जरा मैं उन्हें आँखों से देखूँ तो सही! वह सहस्रशः प्रशंसकों की भीड़ लगी देखना चाहता है। वह अपने गिर्द सभी ओर पुरुषों के जमघट देखने का इच्छुक है। अथवा लोग ही उसके सुनने व देखने को टूट पड़ते हों, तब जानो कि उसका लोक-परिपाक हो

गया—**लोकपक्तिर्जाता**, मानो ये लोग उसके पक्के भक्त ही हो गए हैं। यह अवस्था यश से आगे की है, यह कान का विषय नहीं आँखों का, लोचन का (लोक्रुदर्शने) दर्शन का विषय है।

अर्थात् जब समाज में उसका यश व्याप जाता है, कानों-कान बात फैल जाती है, जिह्वा-जिह्वा पर उसका संशब्दन होने लगता है, तब उससे अगली एक और अवस्था आती है—व्यक्तियों की इच्छा होती है कि चलो, उस व्यक्ति के दर्शन करें, और इसी भावना से प्रेरित होकर दर्शनार्थी सहस्रों रुपया लगाकर, सहस्रों मील की यात्रा करके, सैकड़ों कष्ट उठाकर, दर्शनार्थ जुट जाते हैं। दोनों ओर देखने की इच्छा है; भक्त तो उस यशस्वी व्यक्ति को देखने आए हैं, और उनका भगवान् स्वयं दर्शनार्थियों के जमघट को देखने का उत्सुक है, तब हुआ लोक-परिपाक—**लोक-पक्तिः**।

प्रायः जब कभी दो व्यक्ति शर्त लगाते हैं तो परस्पर हाथ मिलाकर कहते हैं कि अच्छा मित्र, रही बात पक्की ? ठीक है ना ? वह भी हाथ पर हाथ मारकर कहता है कि—निश्चित, पक्की जानो। तो याज्ञवल्क्य भी स्वाध्यायशील व्यक्ति को विश्वास दिलाते हुए कहते हैं कि यह बात पक्की रही कि तुम्हारा लोक पक गया, यदि तुम स्वाध्याय करोगे तो तुम्हें सब ओर से लोग घेरे रहेंगे।

जब हम पकना क्रिया का प्रयोग करते हैं तो वहाँ क्या अर्थ लेते हैं ? जब हम कहते हैं यह ईंट बड़ी पक्की है तो इसका अर्थ यही है कि वह इतनी मजबूत है कि तोड़ने से टूटती नहीं। यही बात वहाँ भी लागू होती है कि जब कहते हैं कि अमुक के दाँत बड़े पक्के हैं। परन्तु जब हम कहते हैं कि लो चावल पक गए या अंगूर पक गए तो क्या वहाँ भी उसका यही अर्थ होता है कि चावल और अंगूर इतने कठोर हैं कि हथौड़े से भी नहीं टूटते? नहीं, कदापि

नहीं। तो फिर पकने का अर्थ क्या हुआ कठोर होना या गल जाना? क्योंकि दोनों के लिए ही एक पच् धातु का प्रयोग हो रहा है। इस समस्या का हल भगवान् पाणिनि महाराज ने कर दिया; जहाँ "डुपचष् पाके" धातु बनाई वहाँ उन्होंने एक और धातु "पची व्यक्तीकरणे" का भी निर्माण कर दिया, जिसका अर्थ यह हुआ कि पकना क्या है—पदार्थ का व्यक्तीकरण, प्रकटीकरण, स्पष्टीकरण अर्थात् व्यक्ति का व्यक्तित्व (प्रतिमूर्त्त होकर) सामने आ जाना। हम किसी को जब 'व्यक्ति' शब्द से व्यवहृत करते हैं तो वहाँ भी यही अर्थ होता है कि वह मनुष्य पका हुआ है, वह अनुभवी है, जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए आवश्यकता है वह उसके अनुरूप हो चुका है। दाँतों का व्यक्तित्व इसी में है कि आई वस्तु को पीस डाले, इसी में उनका पक्कापन है, और अंगूर का व्यक्तित्व इसी में है कि वह मुख में आते ही घुल जाए। घड़े और ईंट का पक जाना यही है कि जिस प्रयोजनार्थ वे बने उसके अनुरूप हों—जिस घड़े में पानी भरते ही उसका व्यक्तित्व घुल गया तो पता चला कि वह पक्का नहीं, तो पकना क्या है? व्यक्ति का व्यक्तित्व सामने आ जाना। लोकपरिपाक का यही अर्थ हुआ कि व्यक्ति का लोक अभिव्यक्त हो गया, वह पक चुका।

जहाँ पक्ति शब्द में इतना अर्थ गर्भित है वहाँ लोक शब्द में विस्तृत अर्थ निहित है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि लोक शब्द में जितने अर्थ निहित हैं वे सभी ऐसे व्यक्ति में पक गए हैं, उनका व्यक्तीकरण हो चुका है।

लोकपक्तिर्भवति

हम प्रायः इहलोक और परलोक शब्दों का प्रयोग करते हैं, इसके अतिरिक्त "भूर् भुवः स्वः" इत्यादि सप्त लोकों का वर्णन भी करते हैं। परन्तु स्वाध्याय से होनेवाली लोकपक्ति में तो लोक-

द्वय ही सम्मिलित हैं, वे यही दो प्रसिद्ध लोक हैं—इह और पर। इह लोक में इह का निर्देश स्पष्ट ही इस लोक, यहाँ के लोक से, हमारी दुनिया से है। पर से अभिप्राय प्रायः पराये से, दूसरे लोक से होता है। वह व्यक्ति जीवित रहते इहलोक की सिद्धि तो करता ही है परन्तु परलोक की सिद्धि भी उसे निरन्तर होती है, और मरणोपरांत वह उसे पा भी लेता है। अर्थात् उसे जहाँ इह-लोक सिद्ध हो जाता है वहाँ परलोक भी सिद्ध हो जाता है। (पर) **लोकपक्तिर्भवति।**

त्रयो वाव इमे लोकाः—निश्चय जानो कि यही तीन लोक हैं—मनुष्यलोक, पितरलोक, देवलोक। वह मनुष्यलोक को प्राप्त होता है इसका यही अभिप्राय होता है कि वह ऐसे समाज में रहता है जहाँ मनुष्यों के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार (उसका देवलोक पक जाता है) का अभिप्राय यही होता है कि वह ऐसे समाज में रहता है जहाँ देवों के दर्शन होते हैं।

शतपथकार ने अन्यत्र देव और मनुष्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—**सत्य वं देवा, अनृत मनुष्याः।** जिन्हें ऋत सिद्ध हो गया है, जो अपरिवर्तित नियमों के ज्ञाता ही नहीं, उन पर आच-रण भी करते हैं, वे सत्यमय व्यक्ति देव हैं और जो ऋतनियमों के पालन करने में भूल कर जाते हैं, अनृत आचरण कर बैठते हैं वे मनुष्य हैं। जो नाप-तोलकर चलते हैं वे देव और जो नाप-तोलकर नहीं चल पाते वे मनुष्य। स्वाध्यायी को दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों के, मनुष्य और देव के दर्शन होते हैं।

जहाँ वह मनुष्यलोक और देवलोक को जीत लेता वहाँ पितर-लोक को भी जीत लेता है। वह ऐसे समाज में निवास करता है, जहाँ पितरों के दर्शन होते हैं। अर्थात् वह मनुष्यलोक को जीत लेता है—मानो ब्रह्मचर्यलोक को जीत लेता है, देवलोक को जीत लेता है; मानो संन्यास को जीत लेता है; पितरलोक को जीत लेने का

अभिप्राय होता है कि वह वानप्रस्थ व्यक्तियों का भी प्रिय बन जाता है।

जहाँ लोकपक्ति का अर्थ लोकसंग्रह है, वहाँ लोक शब्द का एक अर्थ दर्शनशक्ति भी है, अर्थात् स्वाध्यायशील व्यक्ति की दृष्टि पक जाती है। वह आप्त बन जाता है, साक्षात्कर्त्ता हो जाता है, उसकी दर्शनशक्ति इतनी सूक्ष्म और पैनी हो जाती है कि वह हर पदार्थ की गहराई में जाकर उसकी तह तक पहुँच जाता है, उससे कुछ ओझल नहीं रहता, सब-कुछ उसे हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाता है, उसे दिव्यदृष्टि मिल जाती है। पहले उसकी दर्शन-शक्ति पक जाती है, फिर उसकी उस दिव्यदृष्टि का लाभ उठाने के निमित्त लोग इकट्ठे होने लगते हैं, लोकसंग्रह होने लगता है।

इसीलिए स्वाध्याय से होनेवाले लाभों में अन्तिम लाभ का वर्णन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि **लोकपक्तिर्भवति** उसकी दृष्टि पक जाती है, उसका दर्शन संशय रहित हो जाता है, वह दिव्य-द्रष्टा बन जाता है, वह भविष्यवक्ता बन जाता है। ऐसे व्यक्ति के पास स्वभावतः लोगों का आना-जाना लगा रहता है, लोग उसके पक्के शिष्य बन जाते हैं। इस प्रकार प्रसंगात् उसका लोक-संग्रह सिद्ध हो जाता है।

आगे इस लोकपक्ति का लाभ कहते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं—**लोकः पच्यमानः चतुर्भिर्धर्मैर् ब्राह्मणं भुनक्ति-अर्चया च, दानेन च, अजेयतया च, अवध्यतया च**—परिपक्व हुआ मनुष्य-समाज (लोग) उसका दर्शनबल स्वाध्यायशील ब्राह्मण को चार प्रकार के कर्त्तव्यों से सेवन करता है—अर्चना द्वारा, सेवा-सत्कार द्वारा, स्थूल आर्थिक दान द्वारा, अजेयता (न परास्त होने वाली) सामर्थ्य द्वारा, (अहिंसनीय हो जाने से) सबके लिए अवध्य होने से रक्षा द्वारा।

अर्चा बुद्धि

पका हुआ मनुष्य-समाज सेवा से, सत्कार से, पूजा से, ब्राह्मण को सेवन करता है। यदि स्वाध्यायशील व्यक्ति का सेवन करना ही उसका समीपता में रहना हो, उसके संग से लाभ उठाना हो तो उसका पहला उपाय है अर्चना, पूजा, यथायोग्य सत्कार। मनुष्य-समाज यथायोग्य सत्कार द्वारा ही ब्राह्मण के पास पहुँच सकता है। अर्चना का अर्थ पूजा है और पूजा का अर्थ यथायोग्य सत्कार है। यथायोग्य सत्कार में अनेक विधियाँ हैं। सर्वप्रथम उसे उच्चपद पर आसीन करना है। जब उसके समीप आवे तो लोग अभिमान को हटाकर, सर्वथा उसके गुणों के वशीभूत होकर उसे उच्चासन पर बिठाकर, स्वयं नीचे बैठकर उसका सेवन करे।

दूसरे लोग जब उसके पास आते हैं तो श्रद्धान्वित होकर नम्र होकर, विनयशील होकर आते हैं। जहाँ स्वाध्यायशील व्यक्ति की अर्चना होती है, वहाँ जनगण में भी विनय, श्रद्धा, नम्रता आदि गुण आते हैं। इसी अर्चना से लोग उसका सेवन करते हैं। फिर प्रणिपात, उसके सामने झुककर प्रणाम करते हैं। निम्न आसन पर बैठकर बहुत शीलानता से प्रश्न करते हैं और उस दिव्यद्रष्टा से (समाधान पाकर) संशयरहित होते हैं। यदि उसे शारीरिक सेवा की आवश्यकता हो तो भी वे करते हैं। ये सभी अर्चना के अंग हैं। स्वाध्यायशील व्यक्ति को उच्चासन पर आसीन करना, उसके सामने झुकना, श्रद्धापूर्वक निम्न स्थान पर बैठना, नमस्कार करना, **परिप्रश्नेन सेवया**—ये सभी अर्चना के ही रूप है। सो ब्राह्मण को अर्चना के ये सभी अंग अभ्युपगत होते हैं।

दानशीलता

स्वाध्यायशील व्यक्ति के सेवनार्थ जहाँ मानसिक दान का रूप उसके प्रति श्रद्धा, नम्रता, प्रणाम, परिप्रश्न आदि हैं, वहाँ स्थूल पदार्थों के दान-दक्षिणा द्वारा भी उसका सेवन होता है। उसकी सेवा में ज़ाते समय लोग अपने हाथों में समर्पणार्थ कुछ न कुछ लेकर जाते हैं। उसे यदि भोजन की आवश्यकता हो तो भोजन, यदि वस्त्रों की आवश्यकता हो तो वस्त्र, यदि उसे स्वाध्याय-सामग्री (पुस्तक सामग्री आदि) की आवश्यकता हो तो वह सब वात की बात में जुटा देते हैं। उसे कहने अथवा हाथ फैलाने की आवश्यकता नहीं होती, सब-कुछ उसे दान द्वारा स्वयं उपलब्ध हो जाता है।

अजेयतया च ब्राह्मण भुनक्ति

मनुष्य-समाज जहाँ उसकी अर्चना करता है, उसके प्रति भेंटें समर्पित करता है, वहाँ उसे अजेय मानकर ही वह उससे ऐसा व्यवहार करता है। स्वाध्याय से व्यक्ति अजेय हो जाता है और भक्तजन उसकी सेवा में यही समझकर आते हैं कि यह अजेय है। वे अभिमान, मद, मत्सर आदि का परित्याग करके ही आते हैं, उसके ढिग छल-छद्म, दम्भ को छोड़कर ही आते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि यह व्यक्ति सर्वथा अजेय है, इसे जीतना सहज नहीं, इस प्रकार जहाँ स्वाध्यायशील व्यक्ति को अनेकों लाभ होते हैं वहाँ लोक-परिपाकरूप फल से होनेवाले लाभों में अर्चना, दान, अजेयता भी स्वतः उपलब्ध हैं।

अहिंसार्थता

लोक-परिपाक का एक फल अवध्यता है। वह अवध्यता प्राप्त कर लेता है। सभी लोग उसे अजेय ही नहीं, अवध्य मान-

कर उसका सेवन करते हैं। यह मानकर कि इसकी रक्षा में ज्ञान की रक्षा है, समृद्धि है, इसकी रक्षा में हमारे अधिकारों और स्वत्वों की रक्षा है, इसलिए यह रक्षणीय है, अवध्य है, हजार उपाय करके भी इसकी रक्षा करना हमारा धर्म है, अपने प्राणों की हवि देकर भी इसकी जान बचाना हमारा कर्त्तव्य है। वह सबके लिए अवध्य हो जाता है, सभी का रक्षणीय हो जाता है, उसे निर्भयता प्राप्त हो जाती है। उसे जहाँ अजेयता का वरदान मिल जाता है, वहाँ साथ ही उसे अवध्यता का वर भी स्वतः प्राप्त हो जाता है। अजातशत्रु का शत्रु कौन ? भला अजातशत्रु को भय कैसा ?

इस प्रकार शतपथकार ने स्वाध्याय की महिमा बताते हुए सोलह लाभ बताए हैं—आठ लाभ और आठ उपलाभ जो निम्न हैं—

क. १. युक्तमना भवति;
 २. अपराधीनो भवति;
 ३. अहरहरर्थान् साधयते;
 ४. सुखं स्वपिति;

ख. ५. परम चिकित्सक आत्मनो भवति एवं स्वस्थात्मनश्च;
 ६. इन्द्रियसंयमः भवति;
 ७. एकारामता भवति;
 ८. प्रज्ञावृद्धिर्भवति; प्रज्ञया पुनः

ग. ९. ब्राह्मण्यम्
 १०. प्रतिरूपचर्या,
 ११. यशः
 १२. लोकपक्तिः लोकपक्तेश्च

घ. १३. अर्चया; ब्राह्मणं भुनक्ति
 १४. दानेन;

१५. अजेयतया;

१६. अवध्यतया।

एक दृष्टि से इन्हें स्वाध्याय के चतुरंग, चतुर्मुखी लाभ भी कहा जा सकता है। प्रस्तुत वर्गीकरण में दोनों दृष्टियाँ प्रत्यक्ष होती हैं—

स्वाध्यायशील व्यक्ति

(१) योगी की तरह मनस्वी हो जाता है
(२) पर-मुखापेक्षी नहीं होता
(३) न आर्थिक दृष्टि से न अन्तर्दृष्टि के अभाव से कष्ट पाता है।
(४) वह सुख की नींद सोता है; ……
(५) कष्ट में अपना उपकार भी आप; स्वस्थात्मा अर्थात्
(६) इन्द्रियसंयमी
(७) नित्य परमानन्द में लीन
(८) प्रज्ञावृद्धि; अपनी ही नहीं
(९) हर किसी की आवाज
(१०) हर किसी के लिए एक आदर्शवत्—राष्ट्रपुरुष
(११) जिसकी कीर्ति दिग्दिगन्त में फैलती जाती है
(१२) लोग उसके पास उड़े चले आते हैं
(१३) उसकी अर्चा करने
(१४) उसके लिए भेंट चढ़ाने
(१५) उसकी अपरिग्रहता पर मुग्ध होने
(१६) उसकी अहिंस्यता से स्वयं अभय होने के लिए। ●●

स्वाध्याय क्यों ?

लोकाभ्युदय के लिए

शतपथ ब्राह्मण के एकादश काण्ड में स्वाध्याय की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है कि जो विद्वान् प्रतिदिन स्वाध्याय-यज्ञ करता है, उसे द्रव्ययज्ञ से होनेवाले फल की अपेक्षा, त्रिगुणित फल मिलता है। कोई यजमान द्रव्ययज्ञ की समाप्ति पर धन से परिपूर्ण पृथिवी को दान देकर यदि एक लोक को जीतता है,[1] तो स्वाध्याय-यज्ञ को करनेवाला तीनों लोकों को जीतता है। लिखा है—**"यावन्तं ह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददँल्लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति।"** धन से परिपूर्ण पृथिवी को दान देने पर जितने लोक जीते जा सकते हैं, स्वाध्यायशील व्यक्ति ठीक उनसे तिगुने लोकों को जीत लेता है।

यदि द्रव्ययज्ञ करनेवाला एकमात्र भूलोक को जीतता है तो स्वाध्याय-यज्ञ करनेवाला भूर् भुवर् और स्वर् लोकत्रय को जीतता है। यदि सामान्य-यज्ञ करनेवाला मनुष्यलोक को जीतता है, तो स्वाध्याय-यज्ञ करनेवाला मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक तीनों को जीतता है। यदि वह मनुष्यलोक (ब्रह्मचर्याश्रम) को जीतता है तो स्वाध्याय-यज्ञ करनेवाला मनुष्यलोक (ब्रह्मचर्याश्रम), पितृलोक (वानप्रस्थाश्रम), देवलोक (संन्यास-

---

१. त्रयो वाव लोकाः मनुष्यलोकः पितृलोकः देवलोक इति।

आश्रम) तीनों को जीत लेता है।

अक्षयलोक

फिर आगे लिखते हैं—"भूयांसं चाक्षय्यं लोकं जयति य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते" (शतपथ० ११-३-८-३)—जो विद्वान् इस प्रकार दिन-प्रतिदिन स्वाध्याय करता है, वह, उससे भी बढ़कर अक्षयलोक को जीतता है। अक्षयलोक का अर्थ न क्षीण होनेवाला, ब्रह्मलोक है। और यदि ब्रह्म का अर्थ वेद लिया जाय, तो स्वाध्यायशील व्यक्ति का तो वेद ही अक्षयलोक है। वही उसका परमलोक है। सोते-जागते वेद ही उसके चिन्तन का विषय है—निरन्तर उसी का मनन, उसी का चिन्तन। इस प्रकार जहाँ वह जागतिक लोकत्रय को जीत लेता है, वहाँ वह पारमार्थिक अक्षय ब्रह्मलोक को जीत लेता है।

पुनर्मृत्यु से मुक्ति

"स ह वै पुनर्मृत्युं मुच्यते गच्छति ब्राह्मणः सात्मताम्।"

श० ११-३-८-६

स्वाध्यायशील व्यक्ति पुनर्मृत्यु से छूट जाता है। इस एक बार के प्रयत्न से यदि उसे ब्राह्मणत्व प्राप्त हो गया तो उसका ब्राह्मणत्व मरता नहीं। वह पुनर्जन्म धारण करके भी वहीं से कार्य आरम्भ कर देता है, क्योंकि स्वाध्याय से ब्रह्म की सात्मता को प्राप्त कर लेता है, वेद को आत्मसात् कर लेता है, ब्रह्म (आनन्द) को आत्मसात् कर लेता है, इसलिए पुनर्मृत्यु से छूट जाता है। उसे द्विज बनने के लिए पुनः आचार्य (अर्थात् मृत्यु) के बन्धन में नहीं आना पड़ता। यही आशय "स ह वै पुनर्मृत्युं मुच्यते" का है।

इसी आशय को राजर्षि मनु ने अपने शब्दों में यूँ व्यक्त किया है—

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकोम्। मनु० ४-१४८

निरन्तर स्वाध्याय करने, शुचि रहने, तप करने और जीवों के साथ द्रोह न करने से 'अपने' पूर्वजन्म को जान लेता है। यह पूर्वजन्म को जान लेना ही पुनर्मृत्यु से मुक्ति है।

मनु आगे लिखते हैं—

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यासते पुनः।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते।। मनु० ४-१४८

पूर्वजन्म को स्मरण करता हुआ पुनः नित्य वेद का ही अभ्यास करता है। वेदाभ्यास से (स्वाध्याय से) अनन्त सुख भोगता है। शतपथ के **"अक्षय्यं लोकं जयति"** **"ब्राह्मणः सात्मतां गच्छति"** को मनु के **"ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रं अनन्तं सुखमश्नुते"** से मिलाकर आशय समझ लेना चाहिए।

स्वाध्याय-यज्ञ की आहुतियाँ

जिस प्रकार द्रव्य-यज्ञ में पय, आज्य, स्नेह, मधु, आदि की आहुतियाँ दी जातो हैं, तद्वत् स्वाध्याय-यज्ञ में भो ऋग्, यजु, साम और अथर्ववेद को ही पयादि-आहुतियाँ माना है—

स्वाध्याय-यज्ञ में—

ऋग्वेद की ऋचाएँ दूध की आहुतियाँ हैं।
यजुर्वेद की ऋचाएँ घृत की आहुतियाँ हैं।
सामवेद की ऋचाएँ सोम की आहुतियाँ हैं।
अथर्ववेद की ऋचाएँ स्नेह की आहुतियाँ हैं।

जिस प्रकार दूध, घृत, सोम, मधु आदि की आहुतियों से देवता तृप्त होते हैं, वैसे ही स्वाध्याय-यज्ञ में ऋक्, यजुः, साम और अथर्व की ऋचारूप आहुतियों से देव तृप्त होते हैं।

जिस प्रकार साधारण यज्ञ में तृप्त हुए देव यजमान को अनेक मंगलों से तृप्त करते हैं, तद्वत् स्वाध्याय-यज्ञ में डाली गईं हवियों से तृप्त हुए देव स्वाध्यायशील व्यक्ति को अनेक मंगलों से तृप्त करते हैं। लिखा है :—

"स य एवं विद्वान् ऋचः अहरहः स्वाध्यायमधीते पय आहुतिभिरेव तद्देवाँस्तर्पयति त ऽ एनं तृप्तास्तर्पयन्ति-योगक्षेमेण प्राणेन रेतसा, सर्वात्मना, सर्वाभिः पुण्याभिः सम्पद्भिः घृतकुल्या मधुकुल्याः पितृन् स्वधा अभिवहन्ति। (शतपथ ११-५-८-४)

वह विद्वान् जो इस प्रकार वेदचतुष्टय की ऋचारूप हवि का दान करता रहता है, उससे तृप्त होकर देव स्वाध्यायशील व्यक्ति को योगक्षेम, प्राणशक्ति, वीर्यशक्ति, सम्पूर्ण आत्मलाभ, समस्त पुण्यों और सम्पत्ति से युक्त करते हैं और (वानप्रस्थ में) पितरों को भी घृत और मधु की धाराएँ पहुँचाते हैं।

योगक्षेम से तृप्त करते हैं

देवता स्वाध्यायशील व्यक्ति को योगक्षेम से तृप्त करते हैं। योगक्षेम में दो शब्द हैं—एक योग, दूसरा क्षेम। **"अलब्धस्य लाभो योगः"** अप्राप्त वस्तु का लाभ योग है। योग शब्द का अर्थ है युक्त होना, अर्थात् अप्राप्त वस्तु से युक्त हो जाना और उस प्राप्त वस्तु की रक्षा क्षम है—**"लब्धस्य परिपालनं क्षेमः"**। इन दोनों से युक्त होना योगक्षेम है, अर्थात् योगसहित क्षेम को ही योगक्षेम कहते हैं। वेद के राष्ट्रीय मन्त्र में इसका उद्घोष है, **"योगक्षेमो नः कल्पताम्"** हमारा योगक्षेम सिद्ध हो। बस, स्वाध्याय से उस योगक्षेम की सिद्धि होती है।

प्राण और प्रजनन-शक्ति से तृप्त करते हैं

इससे आगे लिखा है कि ऋचारूप पयादि की आहुतियों से तृप्त हुए देवता स्वाध्यायशील व्यक्ति को प्राण और रेतस् शक्ति से तृप्त करते हैं। प्राणन और प्रजनन-शक्तियाँ ही जीवन का आधार हैं। प्राणवान् और वीर्यवान् व्यक्ति ही जीवित हैं। वस्तुतः योग और क्षेम दोनों का आधार भी प्राण और वीर्य ही हैं। प्राणन-शक्ति से ही अलब्ध का लाभ होता है और प्रजनन-शक्ति से लब्ध वस्तु का परिपालन सम्भव होता है। अतः देवता जहाँ योगक्षेम से तृप्त करते हैं, वहाँ वे प्राणी को प्राण और प्रजनन-शक्ति से भी तृप्त करते हैं।

सर्वात्मना तर्पयन्ति

देवता स्वाध्यायशील व्यक्ति को जहाँ योगक्षेम से तृप्त करते हैं, जहाँ प्राण और वीर्य से सम्पन्न करते हैं, वहाँ सर्वात्मना तृप्त करते हैं। सर्वात्मना तृप्त होने का यही अर्थ है कि ऐसी तृप्ति, जिसके पश्चात् उसे कोई इच्छा नहीं रहती। वह अपने-आप से ही तृप्त होता है। उसे अपने-आप से तृप्ति होने लगती है। वह आत्मतृप्त होता है। उसे देवता, यक्ष आदि इन्द्रियों सहित सम्पूर्ण देह से युक्त कर देते हैं।

उसकी महिमा में पुनः कहा है कि समस्त पुण्यों से, समस्त ऐश्वर्यों से तृप्त करते हैं अर्थात् स्वाध्यायशील व्यक्ति पुण्यात्मा और सम्पत्तिवान् हो जाता है।

स्वाध्यायशील व्यक्ति की आहुतियों से देवता तो तृप्त होते ही हैं, पितर भी घृत और मधु की धाराओं से तृप्त होते हैं। देवता जहाँ ऋग्-यजुरूप घृत-मधु से तृप्त होते हैं, वहाँ अपने यजमान के वानप्रस्थ पितर भी भौतिक घृत-मधु की धाराओं से तृप्त होते हैं। इस प्रकार शतपथकार ने स्वाध्याय-महिमा का गान करते

हुए अनेक मंगलों का वर्णन किया है। हम पहले सोलह लाभों की व्याख्या कर चुके हैं, उनमें योगक्षेम, प्राण, वीर्य, सर्वात्मलाभ, समस्त पुण्य, सम्पत्ति तथा पितरों की तृप्ति को सम्मिलित कर लिया जाए तो मंगलों की यह संख्या चौबीच-पच्चीस तक पहुँच जाती है।

स्वाध्याय के वेदवर्णित लाभ

हमने ऊपर शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से स्वाध्याय के अनेक लाभों का उल्लेख किया है। उनका मूल स्रोत वेद ही है। स्वयं भगवान् निम्न ऋचाओं में स्वाध्याय का फल उद्घोषित करते हैं—

पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं-सर्पिर्मधूदकम्॥

ऋग्वेद ९-६७-३२

(यः) जो व्यक्ति (ऋषिभिः) अग्नि, वायु आदि ऋषियों द्वारा (संभृतम्) सम्यक् भरण किये गए (रसम्) वेदज्ञान को (अधिएति) अधिकृत रूप से पारायण करता है [और समय आने पर उनका प्रवचन भी करता है] (तस्मै) उस स्वाध्याय-शील और प्रवचनकर्त्ता के लिए (पावमानी) पवित्र करनेवाली (सरस्वती) वेदरस से युक्त वाणी (क्षीरम्) क्षरणशील दुग्ध (सर्पिः) घृत (मधु) शहद (उदकम्) हर प्रकार के उत्तम पेयों को (दुहे) दुह देती है, परिपूर्ण कर देती है। भगवान् मनु ने इसी अनुभूति को इस प्रकार व्यक्त किया है—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु॥ मनु० २-१०७

(यः) जो व्यक्ति (स्वाध्यायम्) वेदाध्ययनरूप स्वाध्याय को (विधिना) विधिसहित (नियतः) प्रयत्नपूर्वक नियत समय

[प्रतिदिन] संयतात्मा होकर (शुचिः) अन्दर-बाहर से पवित्र होकर (अब्दम्) वर्षभर (अधीते) अध्ययन करता है। (तस्य) उसका (एषः) यह अध्ययन (नित्यम्) [स्वाध्यायशील व्यक्ति को प्रतिदिन] (पयः) दूध (दधि) दही (घृतम्) घी और (मधु) शहद देता है।

ये तो सामान्य लाभ हैं, जिनका वर्णन वेद भगवान् ने किया है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण वर्णन अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड के इकहत्तरवें सूक्त के प्रथम मंत्र में मिलता है। जब परमात्मा आदिसृष्टि में जीवों के कल्याणार्थ ऋषियों की आत्मा में ज्ञान संभृत कर रहे थे, उस समय ज्ञान का उपसंहार करते हुए आदेशात्मक निम्न मंत्र प्रकाशित किया गया—

"स्तुता मया वरदा वेदमाता। प्रचोदयन्ताम् पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥" अथर्व १९-७१-१

आदिसृष्टि में ऋषियों की आत्मा में ज्ञान संभृत कराते हुए (मया) मैंने ही जिसका (स्तुता अथवा प्रस्तुता) स्तवन अथवा प्रस्ताव किया है और जो (वेद-माता) समस्त ज्ञान की निर्मात्री, समस्त लाभों [विद्लृ लाभे] की निर्मात्री है, और जिसकी कुक्षि में रहकर व्यक्ति द्वितीय जन्म धारण करता है, अतः (द्विजानाम्) द्विजनिर्मात्री भी है। न केवल द्विजनिर्मात्री है, अपितु (द्विजानां पावमानी) द्विजों को पवित्र करनेवाली है। यह वेदमाता (वरदा) वरों की देनेवाली है, परन्तु उस माता का एक आदेश है कि (प्रचोदयन्ताम्) इसे सर्वत्र प्रेरित करो, प्रचारित करो। इससे तुम्हें निम्न वर अथवा मंगल मिलेंगे। (आयुः) दीर्घ जीवन, (प्राणम्) [उसका आधार] प्राणशक्ति, (प्रजाम्) प्रजनन-शक्ति और सन्तान, (पशुम्) पशुधन, (कीर्तिम्) यश (द्रविणम्) धन और (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्मवर्चस तेज। ये सात मंगल

वे हैं जिनमें सभी लौकिक मंगलों का समावेश हो गया है। इसके अतिरिक्त पारलौकिक मंगल है, वह भी तुम्हारे लिए है, परन्तु उसके लिए शर्त यह है कि पहले इन सातों लौकिक मंगलों को मुझे दे दो (मह्यं दत्त्वा) मुझे देकर (ब्रह्मलोकम्) मोक्षधाम को (व्रजत) चले जाओ।

उक्त मंत्र से निम्नलिखित बातें प्रकाश में आती हैं—

कि भगवान् के द्वारा प्रस्तावित वेद का ही स्वाध्याय और प्रवचन करो, जो कि अपौरुषेय ज्ञान है, जिसके लिए भगवान् स्वयं कहते हैं—

मया स्तुता

भगवान् कहते हैं कि आदिसृष्टि में ऋषियों की आत्मा में मैंने ही इस वेद का प्रस्ताव किया था, मैंने ही स्तवन किया था। यदि मैंने स्तवन न किया होता तो न वे ज्ञान संभृत कर पाते और न ज्ञान का संसार में विस्तार हो पाता। यह मेरे द्वारा ही प्रस्तुत किया हुआ ज्ञान है—मया (प्र) स्तुता।

वेदमाता

मनुष्य के दो जन्म होते हैं—एक शारीरिक जन्म और दूसरा बौद्धिक जन्म। इन दो प्रकार के जन्मों के लिए दो ही प्रकार की माताओं की आवश्यकता है।[1] एक तो साधारण माता जिससे शारीरिक जन्म धारण किया जाता है, और दूसरी वेदमाता जिससे दिव्य जन्म धारण किया जाता है। अतः उसके अनुरूप ही इस माता का नाम वेदमाता है जिससे व्यक्ति द्वितीय जन्म धारण

---

१. वंशो द्विधा जन्मना, विद्यया च—
शूद्रेण हि समस्तावत्, यावत् वेदे न जायते (मनु)

करता है। इसलिए कहा कि द्विजानां वेदमाता—द्विजों का निर्माण करनेवाली वेदमाता होती है।

वरदा वेदमाता

वेद शब्द का अर्थ जहाँ ज्ञान है, वहाँ एक अर्थ लाभ भी है। संसार में जितने लाभ हैं, उसकी भी यही निर्मात्री है; जहाँ ज्ञान-निर्मात्री है, वहाँ लाभ-निर्मात्री है। हर व्यक्ति लाभ का ही वरण करता है, और प्रत्येक लाभ वह अपनी माता से ही माँगता है। इसलिए इस वेदमाता का एक विशेषण है वरदा—वरों को देने-वाली, जो वर माँगो देती है। आवश्यक यह है कि हम उसके सच्चे पुत्र बनकर उससे माँगने जाएँ और माँ का आदेश पालन करें। उसका एकमात्र आदेश यही है कि इसको सर्वत्र प्रसारित करो (प्रचोदयन्ताम्)।

सात वर

वेदज्ञान का प्रचार और प्रसार करने से तुमको इहलोक और परलोक के सभी वर मिलेंगे। इहलोक के मंगलों का यदि विस्तार किया जाय तो उन्हें तीन एषणाओं में बाँटा जा सकता है—पुत्रैषणा, वित्तैषणा, और लोकैषणा। इन्हीं तीनों एषणाओं का परिगणन उक्त मंत्र में प्रजाम्, द्रविणम् और कीर्तिम् कहकर किया गया है। एषणात्रय तो वर-रूप में मिलेंगे ही, परन्तु जिसके विना सब व्यर्थ है, वह जीवन भी वर में मिलेगा और सर्वप्रथम मिलेगा। इसलिए आयु और प्राण की गणना सर्वप्रथम कराई गई है।

यदि मनुष्य जीवित रहे, तो अनेक मंगलों-सुखों को देखता है, **जीवन्नरः भद्रशतानि पश्यति**। व्यक्ति का जीवन ही समाप्त हो जाए तो पुत्र, द्रविण, और कीर्तिरूप भद्र प्राप्त करके भी वह

क्या करेगा ? जीवन का महत्त्व सर्वोपरि है और इसीलिए इन दोनों मंगलों की गणना सर्वप्रथम कराई गई है—आयु, प्राण; और सबके अन्त में ब्रह्मवर्चस् की गणना की गई है, जिसे शतपथकार ने स्वाध्याय का फल बताते हुए, ब्रह्मण्यता प्राप्त होना लिखा है और जिसे राजर्षि मनु ने **"स्वाध्यायेन ब्राह्मीयं क्रियते तनुः"** कहा उसे ही भगवती श्रुति ने **ब्रह्मवर्चसम्** उद्घोषित किया है। राष्ट्र-गीत में पढ़ा जाता है, **आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्** ।

इस प्रकार वेद ने स्वयं वेदों के स्वाध्याय का फल बताते हुए, इहलोक के मंगलों में उन सभी इच्छाओं को समेट लिया है, जो व्यक्ति के मन में उठ सकती हैं। वे क्रमशः सात हैं—

१. आयु, २. प्राण, ३. प्रजा, ४. पशु, ५. कीर्ति, ६. द्रविण (धन), ७. ब्रह्मवर्चस् तेज ।

ब्रह्मलोक

स्वाध्याय से न केवल उक्त ऐहलौकिक मंगल ही मिलेंगे, अपितु पारलौकिक, सर्वोपरि-मंगल भी प्राप्त होगा, ब्रह्मलोक, परमात्म-साक्षात्कार। इस प्रकार इहलोक के सात मंगलों और परलोक के एक मंगल को मिलाकर आठ मंगलों में ही व्यक्ति की समस्त कामनाओं का समावेश हो गया है। इस प्रकार स्वयं भगवती श्रुति ने ही वेद के स्वाध्याय और प्रवचन के उक्त आठ लाभ दर्शाए और शतपथ एवं मनु आदि ने उन्हें पल्लवित किया। निष्कर्ष यह कि वेदाज्ञा समझकर मनुष्य को स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

इसी बात को तैत्तिरीयारण्यक २-१०-१३ में इस प्रकार कहा है कि जो व्यक्ति स्वाध्याय-यज्ञ में नित्य ऋचारूप आहुतियाँ देता है, देवजन उसके इस ब्रह्मयज्ञ से प्रसन्न होकर उसे पुरस्कार में

जो वर देते हैं, वे दीर्घ आयु, दीप्ति (चमक, तेज), सम्पत्ति, यश, आध्यात्मिक उच्चता और भोजन हैं। सभी शास्त्रों ने स्वाध्याय की महिमा में उसके फलों का प्रायः एक-सा ही वर्णन किया है। सिद्ध हुआ कि स्वाध्याय फल-लाभ की दृष्टि से भी करना चाहिए।

स्वाध्याय द्वारा कर्त्तव्य-बोध

यह लोक, यह समाज, व्यक्ति के आश्रित चलता है और व्यक्ति का समुचित निर्माण समाज के आश्रित है। अतः एक-दूसरे के प्रति दोनों के कुछ परस्पर कर्त्तव्य हैं। व्यक्ति लोक और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझकर कुछ न कुछ अर्पित करे और उस अर्जित फल को पुनः समाज के प्रति समर्पित कर दे।

अय-आय-न्याय-अध्याय

व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह कुछ न कुछ सवन करे। वह सवन चार प्रकार का है—प्रथम अयः द्वितीय, आय, तृतीय न्याय, चतुर्थ अध्याय।

राष्ट्र में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अय का सवन करते हैं और राष्ट्र के प्रति अय का दान करते हैं, वे शूद्र कहलाते हैं। कुछ व्यक्ति आय का सवन करते हैं और राष्ट्र के प्रति इस आय का दान करते हैं, ये वैश्य कहाते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो न्याय का सवन करते हैं और राष्ट्र के प्रति न्याय दान कर देते हैं, वे क्षत्रिय कहाते हैं। और कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अध्याय का सवन करते हैं और राष्ट्र के प्रति अध्याय दान करते हैं, वे ब्राह्मण कहाते हैं। अर्थात् शूद्र अय दान करके, वैश्य आय दान करके, क्षत्रिय न्याय दान करके और ब्राह्मण अध्याय दान करके राष्ट्र, समाज और लोक को समृद्ध और सशक्त बनाते हैं।

महादान

शूद्र अय-दान से समाज को गति देता है। अय का अर्थ ही गति है। यह दान कम महत्त्व का नहीं है। राष्ट्र जिसके कारण गतिशील होता है, चलता है, वह दान भी महत्त्वपूर्ण है।

वैश्य आय-दान से समाज को स्थिति प्रदान करता है। स्थिति के बिना गति असम्भव है। व्यक्ति अथवा समाज की स्थिति आय के आश्रित है और इसका दान करके वह पुण्य का भागी बनता है।

क्षत्रिय न्याय-दान से समाज को कृति प्रदान करता है। जब व्यक्ति-व्यक्ति को विश्वास हो गया कि हमें अपनी कृति का न्याय अवश्य मिलेगा, तो व्यक्ति हो अथवा समाज हो वह कृति में जुट जाता है। यह न्याय-दान और भी महत्त्वपूर्ण है। कृति के विना स्थिति असम्भव है और स्थिति के बिना गति असम्भव है।

सबका आधार और महादान

ब्राह्मण अध्याय-दान से समाज को मति प्रदान करता है। यह दान सर्वोपरि है **सर्वेषामेव दानानां ब्रह्म-दान विशिष्यते** सभी दानों में ब्रह्मदान, विद्यादान, अध्यायदान, विशिष्ट है। इसी अध्याय-दान से राष्ट्र की मति बनती है; राष्ट्र का मस्तिष्क बनता है। जब राष्ट्र की मति शुद्ध है, तो कृति में क्या कमी रहेगी? जब राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति कृति में जुटा है, तो राष्ट्र की स्थिति और गति में सन्देह कहाँ रह जायगा?

कभी न समाप्त होने वाली सम्पत्ति

अय, आय, न्याय और स्वाध्याय में से स्वाध्याय ऐसी सम्पत्ति है कि चाहे जितना व्यय करो, कभी समाप्त नहीं होती। वह व्यय

करने से उत्तरोत्तर बढ़ती ही है। वैश्य की आय यदि व्यय की जाय तो समाप्त हो जाएगी। क्षत्रिय का न्याय भी न्यायप्राप्त व्यक्ति के मिलने के साथ समाप्त हो जाता है। परन्तु ब्राह्मण का अध्याय जिसको दिया जायगा, उसके पास पहुँचकर भी वृद्धि को प्राप्त होगा, स्वयं ब्राह्मण के पास व्यय करने से बढ़ेगा ही, इसलिए स्वाध्याय महादान है। क्योंकि वानप्रस्थ में पहुँचकर द्विजमात्र को अध्याय-दान करना है, अतः इसकी तैयारी स्वाध्याय द्वारा ब्राह्मणेतर वर्णों को भी करनी है, जिससे वानप्रस्थ में स्वाध्याय-दान करके ब्राह्मण बनें, तत्पश्चात् संन्यास के अधिकारी हों। अतः स्वाध्याय महादान है। ●●
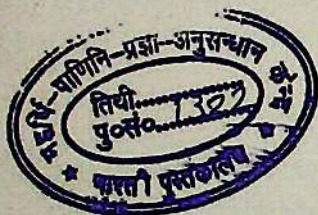
स्वाध्याय का अधिकार

सं श्रुतेन गमेमहि,
मा श्रुतेन विराधिषि।
मय्येवास्तु मयि श्रुतम्।
श्रुतम् मे मा प्रहासीः।
श्रुतात् हि प्रज्ञा उपजायते।

सुनना

महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के तृतीय उद्देश्य में आर्यों का परम धर्म बताते हुए वेद का पढ़ना, पढ़ाना और सुनना, सुनाना, चार आदेश लिखे हैं।

महर्षि के इस उद्देश्य में एक विशेषता है जो अन्य आचार्यों के विधान में नहीं है। अन्य आचार्यों ने स्वाध्याय और प्रवचन पर ही बल दिया है। भगवान् याज्ञवल्क्य इन्हीं दो को अत्यन्त प्रिय वस्तु मानते हैं—**प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतः**। इसी प्रकार उपनिषद् का ऋषि तैत्तिरीय उपनिषद् में नवस्नातक को अन्तिम उपदेश देते समय स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद न करना ही विहित करता है **"स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्"**। स्वाध्याय में सद्ग्रंथों का अध्ययन (पढ़ना) और प्रवचन में पढ़ाना और सुनाना, महर्षि की तीन बातें तो समाविष्ट हो जाती हैं, परन्तु एक विधि (सुनना परम धर्म) का समावेश उनमें भी नहीं हो पाता। बस, ऋषि के तृतीय उद्देश्य की यही विशेषता है कि जहाँ

वेद का पढना, पढ़ाना और सुनाना परम धर्म है, वहाँ सुनना भी परम धर्म है।

बहुश्रुत

मेरा आशय यह कदापि नहीं कि प्राचीन आचार्यों ने इसे सर्वथा छोड़ दिया या इसकी ओर उनका ध्यान नहीं गया। नहीं, कदापि नहीं। ऐसा कहना तो अपनी अनभिज्ञता और उन आचार्यों के प्रति अनादर व्यक्त करना होगा। मेरे कहने का यही आशय है कि उन्होंने स्वाध्याय और प्रवचन के साथ इसे नहीं रखा। और यही महर्षि की विशेषता है कि उन्होंने सुनने को भी स्वाध्याय और प्रवचन के साथ ग्रथित कर दिया अर्थात् जहाँ पढ़ना-पढ़ाना और सुनाना परम धर्म था, उसमें सुनने को भी परम धर्म बना दिया। यदि प्राचीन आचार्यों ने कहीं भी इसका महत्त्व नहीं दर्शाया होता, तो बहुश्रुत शब्द का निर्माण ही कैसे हुआ होता, और महर्षि ही इसे कहाँ से ले पाते? किसी को बहुश्रुत विशेषण से अलंकृत करना उसे अत्यन्त गौरवान्वित करना होता है। जहाँ बहुपठित विशेषण गौरव का सूचक है, वहाँ बहुश्रुत विशेषण और भी गौरवास्पद है।

शुश्रूषा

शूद्र बहुपठित तो क्या पठित भी नहीं हो सकता, लेकिन बहुश्रुत हो सकता है। उसका यह गुण समाज में उसकी प्रामाणिकता के लिए पर्याप्त है। भगवान् मनु द्वारा शूद्र के लिए विहित एकमात्र कर्त्तव्य में सुनना परम धर्म बताया गया है। वहाँ 'एवं' का प्रयोग करके तो मानो उसके एकमात्र धर्म की घोषणा कर दी गई है। **एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत्। एतेषाम् एव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।** शूद्र का एक ही महान् कर्म है कि वह

अन्य वर्णियों की असूयारहित होकर शुश्रूषा करे, सेवा करे। इस शुश्रूषा शब्द में ही कमाल है कि वह सेवा तो करे परन्तु सुनना न छोड़े। वह ब्राह्मण के पास रहकर उसकी सेवा तो करे परन्तु उससे वेदादि सच्छास्त्रों का सुनना न छोड़े। वह क्षत्रिय योद्धा की सेवा में रहे, परन्तु उसका सुनना न छूटे। वह वैश्य की सेवा में रहे परन्तु वेद सुनना न छोड़े। इस प्रकार श्रवणपूर्वक सेवा करते-करते शूद्र भी बहुश्रुत बन जाए और समाज में आदर का पात्र बने। अतः महर्षि के तृतीय उद्देश्य में सुनना परम धर्म लिखना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस उद्देश्य में जहाँ द्विजों के परम धर्म अध्यापनम्-अध्ययनम् का समावेश है, वहाँ शूद्र के परम धर्म "सुनना" का भी समावेश है।[1] दयालु दयानन्द शूद्र को कैसे भुला सकते थे! इसलिए उसका धर्म सुनना (जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, आर्यमात्र-सभी के लिए के लिए परम धर्म है) भी समाविष्ट कर दिया। अन्यथा शूद्र के लिए इस उद्देश्य में कोई स्थान न रहने से, पूर्वाचार्यों की भाँति दयानन्द भी उसी कोटि में आ जाते और उनकी यह स्थापना कि मनुष्यमात्र को वेदाधिकार है, उनके उद्देश्यों से प्रमाणित न हो पाती।

शुश्रूषा शब्द का अर्थ जहाँ सेवा है वहाँ श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा 'सुनने की इच्छा' भी एक अर्थ है। शूद्र को जहाँ अन्य वर्णियों की सेवा का वरण करना है वहाँ सुनने की इच्छा (शुश्रूषा) का भी वरण करना है। इस (बात का) वरण करने के कारण ही शूद्र वर्ण है। उसे किसी की सेवा में रहने से पहले अपने स्वामी से निश्चय कर लेना चाहिए कि आपकी सेवा करते हुए (वेद) सुनना परम धर्म न छोड़ूँगा और आर्य का भी कर्तव्य है कि शूद्र से शुश्रूषा लेते हुए उसकी शुश्रूषा (सुनने की इच्छा) न छूटने पाये। इस

---

[1] श्रोतव्यमिह शूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन—भविष्य पुराण।

प्रकार द्विज और शूद्र परस्पर सुनना परम धर्म का पालन कर पुण्य के भागी बनें।

श्रवण-मनन-निदिध्यासन

श्रवण-मनन-निदिध्यासन तत्त्व-त्रय में श्रवण का स्थान सर्वप्रथम है। "सुनना" सर्वोपरि है। सुनने के पश्चात् ही मनन और निदिध्यासन होगा। स्वयं भगवती श्रुति ने अथर्ववेद में इसका वर्णन भक्त के मुख से मुखरित कराया है कि **"मय्येवास्तु मयि श्रुतम्।"**[१]—मेरा सुना हुआ मुझमें स्थान बनाये, प्रतिष्ठित हो जाये, ठहर जाये। 'स्था गतिनिवृत्तौ' स्था धातु गति-निरोध के अर्थ में प्रयुक्त होती है। सुना हुआ चल न दे, वह मुझमें स्थित हो जाए। स्थित तभी होगा, जब मनन और निदिध्यासन होगा। मनन और निदिध्यासन तभी होगा जब सुनना होगा। अतः महर्षि ने इस श्रवण की महत्ता को समझा था, तभी वेदाज्ञा 'श्रुतम्' को भी अपने उद्देश्य में समाविष्ट कर लिया। सुनना परम धर्म है।

श्रवण (सुनना) से ही श्रवण (कान) और श्रुति की सार्थकता है। यदि महर्षि ने आर्यसमाज के तृतीय उद्देश्य में सुनना परमधर्म न लिखा होता, तो शेष तीनों परमधर्म वाणी का विषय ही रहते, व्यक्ति का पढ़ना-पढ़ाना और सुनाना वाणी तक सीमित रहता। सुनना आते ही श्रवण (कान) भी सार्थक हुए। वाणी का पढ़ाना और सुनाना भी तभी सार्थक होता है, जब सामनेवाला सुनने को अपना परम धर्म समझता है। यदि वह सुनने को परम धर्म न माने तो आपका पढ़ाना और सुनाना धर्म पूर्ण न हो सके, प्रवचन हो ही न पाये। साथ ही जो व्यक्ति इस परम धर्म पर स्वयं आचरण कर रहा है वह पढ़ना, पढ़ाना और सुनाना तो कर पाता,

---

[१] अथर्व १. १. २।

"सुनने" (परम धर्म) के न होने से उसके कानों का क्या मूल्य रहता? जिस व्यक्ति के पास सुनना (श्रवणशक्ति) नहीं अर्थात् जन्म-बधिर है, वह गूंगा अवश्य है। इसलिए स्वाध्याय और प्रवचन से भी बढ़कर स्थान सुनने का है। कोई भी बात वाणी का विषय तभी बनेगी जब वह पहले श्रवण का विषय बन चुकी हो। जहाँ मनुष्य-योनि की सार्थकता वाणी में है, वहाँ वाणी की सार्थकता श्रवण में निहित है, सुनने में निहित है।

वेदों की श्रुति संज्ञा इसीलिए पड़ी कि सर्वप्रथम यह ज्ञान श्रवण का विषय बना। आदि ऋषियों ने, जिनकी आत्मा में इस ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ था, जब इसका उच्चारण किया तो, अन्यों ने सुनकर ही इसे जाना। इसीलिए इसका नाम श्रुति पड़ गया। नवजात शिशु भी सुन-सुनकर ही ज्ञान प्राप्त करता है। इसलिए सुनना परम धर्म लिखकर महर्षि ने लोकसेवा का एक अद्वितीय कार्य किया है।

सुनने का कितना महत्त्व है, यह आप इस बात से जान सकते हैं कि महाभारतान्तर्गत नारद-युधिष्ठिर संवाद में जो कि "कच्चिद् अध्याय" के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें नारद ने बराबर कच्चिद्-कच्चिद् कहकर प्रश्नों की झड़ी लगा दी है, यदि कुछ प्रश्न राज्य से सम्बन्धित हैं, धर्म से सम्बन्धित हैं, तो वहाँ कुछ प्रश्न युधिष्ठिर के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित भी हैं। वह एक श्लोक में वेद, धन, पत्नी और श्रुत की सफलता के बारे में प्रश्न करता है कि हे राजन्! **कच्चितं सफला वेदाः? कच्चित्ते सफलं धनम्? कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम्?**—क्या तुम्हारा वेदाध्ययन सफल है? क्या तुम्हारा धन सफल है? क्या तुम्हारी पत्नी सफल है? और अन्तिम प्रश्न यह कि ऐ राजन्! यह भी बताओ कि क्या तुम्हारा श्रुत (सुनना) सफल है? तुम्हारा सुनना भी कोई फल देता है वा नहीं?

इस पर युधिष्ठिर महाराज ने नारद से यह पूछा, "भगवन् ! मुझे इन उक्त धर्मों के फल का ज्ञान नहीं। यदि इनके फलों का परिगणन कर दें, तभी मैं बता सकता हूँ कि ये फल मुझे प्राप्त हैं या नहीं। इस पर नारद ने फलों का परिगणन कराते हुए कहा है, देखो युधिष्ठिरः! **अग्निहोत्र-फला वेदाः दत्त-भुक्त-फलं धनम्, रति-पुत्र-फला दाराः शील-वृत्तफलं श्रुतम्**—वेदाध्ययन का फल यज्ञ के मूल रहस्यों को जानना है, धन का फल दान और भोग है, पत्नी का फल रति-सुख और पुत्र-लाभ है, सुनने का फल शील और वृत्त है।

इस प्रसंग में हमारे लेख का विषय **श्रतम्** (सुनना) है, जिसके दो फल शील और वृत्त बताये हैं; ये दोनों ही वे महाफल हैं, जिनमें सभी फल अन्तर्निहित हैं। मनुष्य की मनुष्यता इन्हीं पर आधारित है। आर्य का आर्यत्व इन्हीं दो तत्त्वों पर आधारित है, जिसमें ये तत्त्व (शील और वृत्त) हैं, वे ही आर्य हैं। तो सुनने के ये दो महा-फल हुए—शील और वत्त **शील-वत्त-फलं श्रुतम्**। महर्षि दयानन्द द्वारा उद्दिष्ट परमधर्मचतुष्टय में से व्यक्ति एक "सुनना" का ही आचरण करे, तो वह आर्य बन जाता है। वह शील और वृत्त से युक्त हो जाता है। शील वह सम्पत्ति है, जिसके रहने से सब गुण आ जाते हैं और जिसके जाते ही धर्म, सत्य, वृत्त, बल और श्री अपना डेरा उठा लेते हैं, अर्थात् शील के जाते ही व्यक्ति अधर्मात्मा, असत्यवादी, वृत्तहीन और श्रीहीन हो जाता है।

महाभारत के प्रह्लाद-इन्द्र उपाख्यान मे यही दिखाया गया है कि इन्द्र ने प्रह्लाद से उसका जब शील माँग लिया और प्रह्लाद के तथास्तु कहते ही शील ने प्रह्लाद के शरीर से उत्क्रमण कर इन्द्र के शरीर में प्रवेश किया, तब तत्काल एक अन्य दिव्य तेज उनके देह से निकलकर प्रयाण करने लगा। प्रह्लाद ने मार्ग रोककर पूछा—"तुम कौन हो, जो मुझे छोड़कर जा रहे हो ?"

उस समय उस तेजोमय दिव्य व्यक्ति ने कहा, "मुझे धर्म कहते हैं। मैं अब यहाँ नहीं रह सकता। मेरा ठिकाना वहीं होगा, जहाँ शील का निवास होगा, मुझे उसका अनुकरण करना है।" यह कहकर वह इन्द्र के शरीर में प्रविष्ट हो गया।

प्रह्लाद खिन्नमनस् थे ही, चिन्तित थे ही, सहसा क्या देखते हैं कि एक अन्य तेजोमय विभूति भी उनके देह का परित्याग कर बाहर निकल रही है। प्रह्लाद उसे जाते देख पूछ बैठा, "महा-भाग ! तुम कौन हो ? कहाँ जा रहे हो ? तुमने मेरा परित्याग क्यों किया ?" वह बोला, "प्रह्लाद ! मुझे सत्य कहते हैं। मैं अब यहाँ न रह सकूँगा। मेरा वहीं निवास है, जहाँ शील और धर्म रहते हैं। तुमने शील और धर्म का परित्याग कर दिया है। अब तो मैं वहीं जाऊँगा।" यह कह इन्द्र के शरीर में प्रविष्ट हो गया।

प्रह्लाद को यह क्या पता था कि शीलत्याग से यह सब-कुछ परिणाम होगा; धर्म और सत्य भी छोड़ जाएँगे। इस पर पश्चा-त्ताप करने ही लगे थे कि देखते क्या हैं कि उनके शरीर से मानो प्राणों को कोई खींच रहा है। मानो वे अभी निष्प्राण हो जाएँगे। पता चला कि वृत्त नाम का तत्त्व मूर्तरूप धारण करके निकल गया। प्रह्लाद ने पीछा किया और कहा, "महाभाग ! तुम तो मेरा त्याग न करो। मेरा मरण हो जाएगा। जिसका वृत्त चला गया, उसका सब-कुछ चला जाता है। वृत्त से मरा हुआ व्यक्ति मरा ही समझा जाता है —अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः" प्रह्लाद रो दिया और बोला, "रुक जाओ, मेरा परित्याग न करो।" वृत्त ने झटका दिया, यह जा और वह जा। प्रह्लाद को केवल यह सुनाई दिया, "राजन् ! मैं वहीं जा रहा हूँ, जहाँ शील धर्म और सत्य रहते हैं।"

अभी यह बात पूरी भी न हो पाई थी कि देखते क्या हैं, उनके उनके शरीर से बल निकलकर वृत्त के पीछे हो लिया। प्रह्लाद

चिन्तित थे कि यह क्या हुआ? मैं क्या कर बैठा? इतने ही में एक अत्यन्त रूपवती देवी प्रह्लाद के शरीर से निकलकर अलग खड़ी हो गयी, और प्रह्लाद कान्तिहीन और श्रीहीन हो गये। उसे जाते देख प्रह्लाद ने सिर धुन लिया, बहुत पैर पटके और पुकार-पुकारकर कहने लगे, "तुमने मुझे क्यों त्याग दिया?" तो एक ही ध्वनि सुनाई दी, "महाभाग प्रह्लाद! मैंने तुम्हारा वरण इसलिए किया था कि तुममें शील था, धर्म था, सत्य था और वृत्त प्रतिष्ठित था। अब जब तुमने उन सबका परित्याग कर दिया है तो मैं क्या कर सकती हूं? मैं भी वहीं जाऊँगी।" यह कहकर उसने तत्काल इन्द्र के गले में माला पहना दी और उनका वरण कर लिया।

जिस शील के उठ जाने से धर्म, सत्य, वृत्त और श्री ने प्रह्लाद को त्याग दिया और जिस शील के जम जाने से धर्म:, सत्य, वृत्त और श्री ने इन्द्र का वरण किया, वह शील और वृत्त जिसके महाफल हैं ऐसे "सुनना" धर्म का परित्याग करना कितनाअपराध है! इस लिए नारद का यह महावाक्य स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है—"शील-वृत्तफलं श्रुतम्।"

सुनने का कितना महत्त्व है! इसलिए महर्षि ने तृतीय उद्देश्य में जहाँ वेदों का पढ़ना, पढ़ाना, सुनाना को परमधर्म बताया है, वहाँ सुनने को भी परमधर्म बताया। शेष धर्मत्रय परमधर्म सुनना-रूप धर्म के पालन का फल होगा। वह हम स्वाध्याय-महिमा में दिखा चुके है, यहाँ सुनने-रूप परमधर्म का क्या फल है, यह दिखाना ही अभीष्ट था। सुनने से व्यक्ति शील और वृत्तवान् हो जाता है। वह शील कितने प्रकार का होता है यह भी दिखाते हैं।

हारीतस्मृति में हारीत लिखते हैं, "तदाह हारीतः। शीलं ब्रह्मण्यतादि रूपम्, ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्तता, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयता, मृदुता, अपारुष्यम् मित्रता, प्रियवादित्वम्, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्यं, प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधशीलम्"

यह तेरह प्रकार का शील है।

ब्रह्मण्यता

शीलों में प्रथम ब्रह्मण्यता कहलाता है। शीलवान् व्यक्ति की पहचान है कि वह पवित्र ज्ञान के लिए प्रयत्नशील हो कि उसने आज कौनसा नया ज्ञान अर्जित किया है, उसके ज्ञान में नयी वृद्धि हुई, उसने अन्यों के ज्ञान में वृद्धि की।

ब्रह्मण्यता का एक आशय यह भी है कि वह ब्राह्मणों के प्रति मैत्रीभाव रखे। उनसे अपने को सम्वन्धित रखे और उनके धर्म को आचरण में लाये। धार्मिक, सज्जन और महीपति वनने का प्रयत्न करे। साथ ही आस्तिक भाव रखे, सदैव परमात्मा के ध्यान और भक्ति में रहे।

देवपितृ-भक्तता

शीलयुक्त व्यक्ति की दूसरी पहचान है कि देवों और पितरों के प्रति भक्तिभाव रखे। उनकी सेवा करे। भूलकर भी कोई ऐसा कार्य न करे जिससे वड़ों का अपमान या अनादर व्यक्त होता हो। पूज्यों के प्रति अनुराग का नाम ही भक्ति है। उनकी आज्ञा-पालन में सदा तत्पर रहे। महान् विपत्ति हो क्यों न आ जाए, गुरुजनों और पूज्यों की आज्ञा का उल्लंघन कदापि न करे। देव और पितरों के तुल्य गुणों से युक्त हो। अपने को विद्वानों और गुरुजनों के लिए, माता-पिता तथा पितृतुल्य वानप्रस्थ तपस्वियों के लिए समर्पित कर दे। कदाचित् गुरुजन, हितार्थ ताड़ना भी करें अथवा आदेश देना तक छोड़ दें, तिस पर भी रोष न करे अपितु उसे अपना दुर्भाग्य समझकर गुरुजनों के प्रति गद्गद वाणी और 'साश्रुनेत्र' होकर प्रार्थी हो कि आपने अपनी कृपा का हाथ क्यों हटा लिया जो हम पुत्रों को आदेश नहीं देते ? पिता दशरथ द्वारा वनगमन का स्वयं आदेश न देने से राम अत्यन्त दुःखी हुए थे। यह

स्मरण कर साश्रुनेत्र होकर गद्गद वाणी से गुरुजी को याद किया करते थे। यही उनकी देव-भक्ति थी।

भक्त की पहचान सेवा है। जहाँ भक्त गुरुजनों की सेवा में अपना सौभाग्य समझे, वहाँ गुरुजन भी उसी से सेवा लेना चाहें। भक्त सेवा के लिए लालायित हो और जब गुरुजन सेवा लेना चाहें, तब समझे कि अब मेरा भाग्य उदय हुआ है। भक्त भक्ति से ही भाग्यशाली बनता है। भक्ति और भाग्य एक हैं। **"भज सेवायाम्"** धातु से बनते हैं। भक्त वह है जो सेवाशील हो। **"सेवाधर्मः परम-गहनो योगिनामप्यगम्यः** कहकर जिसे योगियों के लिए भी अगम्य बताया है, वह सेवाभाव किस सरलता से आ जाता है।

सौम्यता

हारीत ने सौम्यता को तृतीय शील कहा है। शीलवान् व्यक्ति की पहचान ही सौम्यता है। वह सोमवत् सबका प्यारा हो। उसे देखकर सभी की आँखें तृप्त हों, मन मुदित हो, हृदय आह्लादित और शरीर पुलकित हो जाए, गुरुजन उसे आशीर्वाद देने के लिए आतुर हों। वह उनका प्यारा और दुलारा हो। जहाँ चला जाए अपने दर्शनमात्र से सबको आनन्दित कर दे। अत्यन्त विनयी और नम्र हो।

अपरोपतापिता

चतुर्थ शील का उल्लेख करते हुए कहा है, शीलवान् व्यक्ति की जो पहचान बताई है, जिससे वह महान् और सबका पूज्य बन सकता है, सर्वमित्र और अजातशत्रु बन जाता है, वह गुण है—अ-पर-उपतापिता—दूसरों को ताप न पहुँचाना। उपताप कहते हैं पीड़ा को, दुःख को, दर्द को, शोक को, संताप को। वह अपनों को तो क्या, जो पराये हैं, उनकी भी पीड़ा-दुःख-संताप नहीं पहुँचाना,

यह उसके स्वभाव में आ जाता है। परोपतापिता से सर्वथा दूर, सर्वथा अपरोपतापिता। इस शील के आते ही उसमें शील का अगला अंश अनसूयता स्वत: आ जाता है।

अनसूयता

वह शील है जो बड़े-बड़े व्यक्तियों में भी दुर्लभ है। असूया-शून्य व्यक्ति के दर्शन दुर्लभ ही होते हैं। असूया-दोष से ग्रसित व्यक्ति दूसरों के गुणों को कभी नहीं सहता। व्यर्थ ही दूसरों के गुणों में भी दोष का आविष्कार कर लेता है। उसे तो भ्रातृभक्त भरत के राम की पादुकाएँ लाने में भी दोष नजर आता है कि जिन पादुकाओं से राम जंगल के काँटों से रक्षा कर सकते थे, वह भी छीन लाया और काँटे चुभाने के लिए उन्हें नग्नपाद कर आया। दूसरे के गुण में दोषारोपण करना एक चातुर्य समझता है।

दूसरे की गुण-समृद्धि को सहन न कर सकना असूया है। सदा दोष का वर्णन करते रहना, क्रोध करना, अन्यों की गुण-प्रशंसा सुनकर खीजना, डाह करना, ये सभी बातें असूया कहलाती हैं। शीलवान् व्यक्ति असूया को पास नहीं फटकने देता। सर्वथा अनसूया-गुण-युक्त व्यक्ति गुणियों के गुण को मारता नहीं, छोटे गुणों की भी स्तुति करता रहता है। "परगुण-परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्" को अपना स्वभाव बना लेता है। यदि किसी में दोष हो भी तो सुनी-सुनाई पर न कान देता है, न ध्यान देता है, और न जुबान हिलाता है। इस शील को अनसूया कहते हैं। "न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि। नान्यदोषषु रमते सानसूया प्रकीर्तिता।"

नारद की इस स्वर्णिम उक्ति में "शील-वृत्त-फलं श्रुतम्" सुनने के दो महान् फल हैं शील और वृत्त। यह सुनना धर्म शूद्र का भी है। इससे जहाँ उसे ब्रह्मण्यता आदि शील प्राप्त होंगे, वहाँ

अनसूया भी प्राप्त होगी। यह वह धर्म है, जिसे शूद्र को भी धारण करना है। इसके बिना तो यह शुश्रूषा नाम धर्म का पालन ही नहीं कर सकता। भगवान् मनु ने शुश्रूषा का विशेषण अनसूया लिखा है—"एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुःकर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया (म० स्मृ० १-९१)। इस शील के बिना अन्य शील नहीं आ सकते। जब अनसूया-युक्त शुश्रूषा आती है, तभी ब्रह्मण्यता, भक्ति, सौम्यता, अपरोपतापिता, आदि पूर्वशीलों की सिद्धि और मृदुता आदि शीलों की भी उपलब्धि होती है।

मृदुता

मृदुता का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है—मृदोर्भावः मृदुता—कोमलता का भाव, अतीक्ष्ण होना। मृदु व्यक्ति सर्वदा सबका प्रिय होता है। वह कहीं भी हानि नहीं उठाता। बड़ी-से-बड़ी आपत्तियाँ भी उसका कुछ विगाड़ नहीं कर पातीं। नदी में बाढ़ आने पर किनारे के सीधे खड़ वृक्ष गिर जाते हैं, ढह जाते हैं। वह घास जो अत्यन्त मृदु होती है तूफान आने पर नम्रीभूत हो जाती है, बाढ़ के शान्त होते ही वह फिर अपना सिर उन्नत करके लह-लहाने लगती है।

मृदुताशील में एक और भी विशेषता रहती है कि उसे गुरुजन अपने गुणों के अनुरूप ढाल सकते हैं। अथवा वह मृदुव्यक्ति ही अपने का स्वयं गुरुजनों के साँचे में ढाल देता है। मृदुता की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें गुणाधान करते हुए कुछ भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता। मदुता गुणी को सर्वगुण-सम्पन्न बना देती है।

अपारुष्यम्

छठा और सातवाँ शील मृदुता और अपारुष्यम्, एक ही गुण

जँचते हैं, परन्तु अन्तर है। मृदुता उस कोमलता को कहते हैं, जो हृदय और मन से उठती है। परन्तु अपारुष्यम् वह कोमलता है, जो वाणी में समा गई हो। परुष कहते हैं निष्ठुर वचन को। निष्ठुर और कठोर वचन की भावना को पारुष्य कहते हैं। उससे रहित होना अपारुष्य है। परुषवाक् व्यक्ति की जिह्वा पर वह विष होता है, जिसमें बुझकर निकला हुआ प्रत्येक वचन अगले के मर्म को भेद देता है। **परेषां देश-जाति-कुल-विद्या-शिल्प-रूप-वृत्त्याचार-परिच्छेद-शरीर-कर्म-जीवितां प्रत्यक्षदोषवचनम् पारुष्यम् इति वदन्ति।**

अन्यों के देश, जाति आदि का नाम लेकर भर्त्सना करना, परुष वचन कहना ही पारुष्य भाव है। कर्ण और शल्य के विवाद में एक-दूसरे पर इसी प्रकार की कीचड़ उछाली गई थी। कर्ण कहता था, "शल्य! मैं जानता हूँ कि तुम जिस देश के राजा हो, वहाँ के लोग कितने असभ्य, और आवारा होते हैं।" शल्य कहता था, "कर्ण! मैं जानता हूँ कि तुम किस कुल से हो। तुम्हारे जन्म का भी पता है। तुम कानीन (हराम के) हो" इत्यादि। जाति, कुल, रूप, वृत्ति, आचार, पहरावा, आदि के कारण किसी पर दोषारोपण करना, परुष वचन उँडेलना ही पारुष है। जो इससे हीन होता है वह अपारुष्य शील से युक्त होता है।

शिशुपाल ने श्री कृष्ण को जो सौ-सौ गालियाँ दी थीं, वे कोई माँ, बहन, बेटी को गालियाँ दी थीं? वहाँ भी तो यही श्री कृष्ण के के भिन्न-भिन्न जाति, कुल, विद्या, आदि को लेकर परुष वचन का ही प्रयोग किया था। बस, इसका जिसमें अभाव होता है, वह अतिशय शीलवान् व्यक्ति कहलाता है। जब व्यक्ति में ब्रह्मण्यता, अनसूयता, मृदुता और अपारुष्य आ जाते हैं, तब मित्रता नामक शील का उदय होता है। जिसमें असूया नहीं, उसके अन्दर-बाहर

मृदुता होती है, तथा वाणी में माधुर्य आ जाता है। तब वह मित्र शील से अलकृत हो जाता है।

मित्रता

वेद में भक्त की कामना है—**मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्; मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे** य० ३६-१८—मैं भूतमात्र को मित्र-दृष्टि से देखूं और सभी प्राणी मुझे मित्रदृष्टि से देखें; हम सभी परस्पर मैत्रीभाव से एक-दूसरे को देखें। इसी बात को श्रीकृष्ण ने भी (गीता में) कहा है—**"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःख-सुखः क्षमी** (१२-१३)।" जब व्यक्ति प्राणिमात्र से द्वेष त्याग देता हैं, तब वह सबका मित्र होता है। फिर तो दोनों ओर से स्नेह-प्रवाह बहने लगता है। वह स्नेह कभी तो आँखों में अश्रु का रूप धारण कर लेता है और कभी वाणी में गद्गद गिरा का रूप धारण कर बहने लगता है। वह हर किसी का मान करता है और सब कोई उसका मान करने लगते हैं। **मिनोति मानं करोति इति मित्रम्**—जो अपने से छोटे हों उनके प्रति कृपालु हो जाता है और इस मित्रता शील के कारण वह सर्वप्रिय बन जाता है। नीतिकार ने क्या ही अच्छा कहा है **केना-मृतमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम्। आपदां च परित्राणं शोक-संतापभेषजम्।"** यह अक्षरद्वय से निष्पन्न मित्र शब्द का किसने निर्माण किया है? जो आपत्तियों से परित्राण करनेवाला और शोक और संताप की परमौषध है।

प्रियवादित्वम्

व्यक्ति में उपर्युक्त ये सभी शील सुनने से ही आते हैं। इनमें से जब व्यक्ति में मृदुता, अपारुष्य और मित्रता आ जाते हैं, तब

अगला शील **"प्रियवादित्वम्"** (प्रिय बोलना) भी आ जाता है। बहुश्रुत का एक यह भी गुण है। विदुर ने कहा है कि व्यक्ति सत्य और प्रिय बोले। ऐसा सत्य न बोले जो किसी को अप्रिय लगे — **सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।** अपारुष्यम् में और प्रियवादित्व में केवल इतना अन्तर है कि पारुष्य वचन वह है, जो किसी में दोष है नहीं, उसका आरोप करके उसकी निन्दा व भर्त्सना करना। तात्पर्य यह है कि वक्ता की वाणी में जहाँ कठोरता और असत्य है, वहाँ हृदय में भी कठोरता और ईर्ष्या है। प्रियवादित्व शील वह गुण है कि वक्ता सत्य तो कह रहा है परन्तु उसे भी प्रिय ढंग से। अन्धे को अन्धा न कहकर प्रज्ञाचक्षु कहता है। प्रियवादी व्यक्ति अनन्त पुण्यों का लाभ करता है। जो फल सहस्रों गौओं के दान का है, जो फल भूमिदाताओं के दान का है और जो फल सुवर्ण का दान करनेवाले को मिलता है, वह एक अकेले प्रियवादी व्यक्ति को मिलता है। **गोसहस्र-प्रदातारो, भूमिदातार एव च। ये सुवर्ण-प्रदातारस्तथा सर्वे प्रियंवदाः।**

कृतज्ञता

शीलों में दसवाँ शील कृतज्ञता है। संसार में कृतघ्नता सबसे बड़ा अपराध है। **कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः** कहकर कृतघ्न व्यक्ति के लिए संसार में कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया गया। इसलिए यदि कोई व्यक्ति 'सुनने' के फलस्वरूप शीलों में से एक इस कृतज्ञता-मात्र को भी धारण कर ले, तो समझना चाहिए उसने बहुत-कुछ प्राप्त कर लिया। अतः किसी के किये उपकार को कदापि न भुलाए। किसी के अपने प्रति किये हुए उपकार को जानना और स्वीकार करना यही बड़ी कृतज्ञता है—**कृतमुपकृतं जानाति स्वीकरोति यः सः कृतज्ञः।**

शरण्यता

शीलों का वर्णन करते हुए महामुनि हारीत कहते हैं, शरण्यता भी एक महान् शील है। यदि शत्रु भी अपनी शरण में आए, तो उसे शरण दो। जो मित्र है, उसका तो कहना ही क्या ! शरण का द्वार सदा खुला रहना चाहिए। ब्राह्मण को शर्मा इसलिए कहते हैं कि वह सबकी, दीन-दुःखियों की शरण बन जाता है। जिसने बहुत पढ़ और सुनकर भी शरण का द्वार बन्द कर दिया, वह देव तो क्या, मनुष्य भी नहीं कहला सकता, वह तो असुर है। किसी को भी हेय, निम्न, नीच नहीं समझना चाहिए। मनुष्य सभी की शरण, आश्रय और ठिकाना बन जाए और धन्य कहलाए।

कारुण्य

शीलों में जहाँ मृदुता, मित्रता, कृतज्ञता, शरण्यता, आदि महत्त्वपूण गुण हैं, वहाँ कारुण्य भी एक आवश्यक शील है। करुणा नामक शील मनुष्य का महागुण है, जिससे उसकी मानवता में निखार आ जाता है। दूसरों को दुःख में देखकर कृपा, दया और अनुकम्पा दिखाना करुणा है, दूसरों के दुःख को दूर करने की इच्छा करुणा है। **"परदुःखहारिणीच्छा कारुण्यम्।"** संसार में ऐसे भी व्यक्ति हैं जो निष्कारण ही किसी को पीड़ा पहुँचाते हैं; ऐसे भी महात्मा हैं जो निष्कारण ही अन्यों को सुख पहुँचाते है और उनके दर्द को अपना बना लेते हैं। ऐसे ही महान् पुरुषों के लिए अमीर ने क्या अच्छा कहा है—

> काँटा लगे किसी के तड़पते हैं हम, अमीर।
> सारे जहाँ का दर्द हमारे जिगर में है॥

गीता में भी कहा है—

> **न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।**
> **कामये दुःखतप्तानाम्प्राणिनामार्तिनाशनम्॥**

करुणाशील व्यक्ति ही सारे जहाँ का दर्द ले सकते हैं अतः बहुश्रुत में कारुण्य नामक शील उदित होता है। यही उसका फल क्या कम है ? **शील-वृत्त-फलं श्रुतम्।**

अब रह गया शीलों में अन्तिम और शायद सर्व-प्रमुख शील प्रशान्ति। यदि यह गुण नहीं तो सब शील व्यर्थ हैं।

प्रशान्ति

यदि परिणाम शान्ति के रूप में दृष्टिगोचर हो तो समझना चाहिए कि आपका आरम्भ ठीक था। हर कार्य की सफलता की कसौटी मन:शान्ति है। प्रायः देखा गया है हर कार्य की समाप्ति पर उच्च स्वर से **ओम् शाऽऽऽन्तिः शाऽऽऽन्तिः शाऽऽऽन्तिः** का उद्घोष करते हैं, जिसका उद्देश्य यह होता है कि व्यक्ति को आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शान्ति प्राप्त हो। जिस प्रकार सब कार्यों के अन्त में शान्ति की कामना की जाती है, तद्वत् यहाँ भी शीलों में अन्तिम शील 'प्रशान्ति' का वर्णन करके इस बात की पुष्टि कर दी गई है कि शील मात्र का भी अन्तिम परिणाम 'प्रशान्ति' ही होना चाहिये।

इस में लगा हुआ **'प्र'** उपसर्ग शान्ति की प्रकृष्टता को सूचित करता है। जहाँ केवल शान्ति पद में इहलोक की शान्ति अभीष्ट है, वहाँ प्रशान्ति से पारलौकिक शान्ति अभीष्ट होती है। प्र उपसर्ग का अर्थ प्रकर्ष, उत्कर्ष, सर्वतोभाव इत्यादि है, तो प्रशान्ति का अर्थ हुआ ऐसी शान्ति, जो उत्कृष्ट हो, सबसे बढ़कर हो, सर्वतोभावेन हो, इतनी परिपूर्ण हो कि उसके पश्चात् अन्य किसी वस्तु की कामना न रहे। ऐसी तृप्ति कि अब और कोई इच्छा न रहे, पूर्ण-तृप्त, पूर्ण-काम। यहाँ प्रशान्ति का यही अर्थ है कि व्यक्ति पूर्ण शान्ति या परमशान्ति का अनुभव करे। जब व्यक्ति अपने गुरु-जनों, विद्वानों की बात पर ध्यान देता है, सुनता है, तो उसे परम-

शान्ति मिलती है। सुनने और समझने से उसके जीवन में अद्वैत भावना आ जाती है जो परम शान्ति का मूल है। द्वैतभावना परस्पर द्वेष और ईर्ष्या को जन्म देती है, जो मनुष्य के जीवन में अशान्ति पैदा कर देती है। जहाँ व्यक्ति में अपने-पराये की भावना आई कि राग-द्वेष का जन्म हुआ और उसके कारण व्यक्ति का जीवन अशान्त हो गया। इस राग-द्वेष और अपने-पराये की भावना को समाप्त करने के लिए एकत्व की, 'अद्वैत' की भावना जगाना आवश्यक है। इसीलिए भगवती श्रुति ने कहा भी है कि **तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः** (य० ४०.७) एकत्व की उपासना करनेवाले को कोई मोह-शोक नहीं रहता।

एकत्वमनुपश्यत :

एकत्व की उपासना के लिए किसी रिश्ते-नाते की तलाश करनी होगी। भगवती श्रुति ने उसे 'आत्मवाद' का नाम दिया है। यही एक रिश्ता है जिससे एक मानव दूसरे मानव को अपना समझने लगता है। जैसे प्रान्तवादी या भाषावादी अपने प्रान्तवाले को देखकर उसे अपना समझने लगता है, भिन्न प्रान्तवाले को पराया समझता है, क्योंकि उसके प्रान्त से पृथक् भी प्रान्त हैं। परन्तु आत्मवाद को आधार बनाने से पराया कोई रहता ही नहीं, अपितु सभी में अपनापन दीखने लगता है। इसलिए शोक और मोह की कोई गुंजायश ही नहीं रह जाती। यदि आत्मवाद की भावना स्थायी है, तो शान्ति भी स्थायी होगी। इसी आत्मवाद के महत्त्व को समझाते हुए किसी ने क्या ही अच्छा कहा है—**त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्, ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्**—व्यक्ति के सामने जब दो पक्ष आयें, तब कुल के हित में व्यक्ति के हित को त्याग दे, ग्राम-हित में कुलहित को त्याग दे, जनपद के हित में ग्राम-हित को त्याग दे, राष्ट्र-हित में जनपद के

हित को त्याग दे, विश्व-हित में राष्ट्र-हित को त्याग दे, और आत्म-हित में विश्व-हित को भी वलिदान कर दे। समस्त प्राणियों में आत्मानुभूति करना न छोड़े, भले ही विश्व-हित का त्याग करना पड़े। इसी बात को भगवती श्रुति ने यूँ कहा है :

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ य० ४०-६

जो कोई भी व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने आत्मा में देखता है और सभी प्राणियों में अपने आत्मा को (अपने को) देखता है, तब उसे कोई अशान्ति नहीं होती। कितना मूल्यवान् सूत्र है! जिससे समस्त प्राणिमात्र अपने ही हो गये, कुछ भी पराया नहीं रहा। अपना-पराया समाप्त होते ही रागद्वेष की समाप्ति हो गई, रागद्वेष के समाप्त होते ही प्रशान्ति का लाभ हो गया। अपने-पराये की भावना ही मनुष्य को अशान्त किए रहती है। बात दरअस्ल है भी इतनी ही कि—**अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।**

'यह अपना है या पराया' की गिनती छोटे लोग करते हैं, परन्तु उदारचेता व्यक्तियों की गिनती में एक के सिवाय दूसरा अङ्क ही नहीं होता। वे दो, तीन, चार, पाँच गिन ही नहीं सकते। उनकी गिनती एक से आरम्भ होकर एक पर ही समाप्त हो जाती है—"एकत्वमनुपश्यतः" के अधिगम से समस्त वसुधा ही उसका परिवार होती है। इसी एक भावना से मनुष्य प्रशान्ति, परमशान्ति, शाश्वत शान्ति का लाभ लेता है।

शान्तरस का वर्णन करते हूए व्यक्ति की जो स्थिति लिखी है, वह निम्न प्रकार है—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता
न रागद्वेषौ न च काचिदिच्छा।

रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः
सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः ॥

जिस अवस्था में न दुःख होता है न सुख होता है, न कोई चिन्ता-व्यग्रता रह जाती है, न रागद्वेष, न कोई किसी प्रकार की इच्छा, ऐसी स्थिति को ही मुनिजनों ने शान्त रस कहा है। अन्तर्हृदय में उठनेवाले भावों में जो एकरस सम-प्रमाण रहता है, उसी में शीलों के अन्तिम और परमशील प्रशान्ति की समाधि होती है। शील-वृत्त-फलं श्रुतम्।

अन्त में—

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा बलवतां धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥
(नीति शतक)

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधाः ॥ (म० भा०)

सब प्राणियों पर मन, वाणी और कर्म से द्रोहरहित होना, अनुग्रह (मेहरबान होना) और ज्ञान (मनुष्यों के भावों और रुचियों का ज्ञान और उनके क्लेश मिटाने तथा सुख के लानेवाले सच्चे साधनों का ज्ञान) इसको बुद्धिमान् शील कहते हैं।

●●

स्वाध्याय की पृष्ठभूमि

मनोभूमि का संस्कार

अब तक हम जो कुछ लिख चुके हैं, वह निम्न प्रकार है—स्वाध्याय परम श्रम है, परम तप है, परम धर्म है। स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करना चाहिए। स्वाध्याय के गंभीरार्थ क्या हैं? स्वाध्याय के अनेक फल हैं। स्वाध्याय से व्यक्ति इहलोक और परलोक के फल प्राप्त कर लेता है, इत्यादि।

अब आगे यह जानना अवशिष्ट रह गया है कि स्वाध्याय कैसे किया जाय, उसकी तैयारी के लिए क्या-कुछ आवश्यक है? इन सभी प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है और उनका समाधान भी आवश्यक है। आगे इन्हीं प्रश्नों को यथामति समाधान करते हैं।

वातावरण

स्वाध्याय के लिए सर्वप्रथम वातावरण का महत्त्व है। वह जितना अच्छा होगा, स्वाध्याय भी उतना ही लाभकारी होगा। वातावरण व्यक्ति के अन्तर्जगत् को प्रभावित करता है, मन पर अपना प्रभाव छोड़ता है।

वातावरण का सम्बन्ध देश और काल से है। स्थान की पवित्रता मन को पवित्र बनाने में सहायक होती है। एकान्त और शान्त स्थान स्वाध्यायशील व्यक्ति को ग्रन्थ में निमग्न कराकर गहन अर्थ की प्राप्ति में सहायक होता है। इसलिए कवि, साहित्यिक, सभी ऐसा स्थान खोजते हैं जहाँ पहुँचकर व्यक्ति की ऊहा

जागरित हो, मेधा विकसित हो। इसके लिए प्रकृति की गोद सर्वोत्तम है। प्रकृति से दूर रहना बुद्धि को कुण्ठित करना है। जितना प्रकृति की गोद में रहकर अध्ययन किया जाय, उतना ही उत्तम होगा, चमत्कारपूर्ण होगा। याद रखें, प्रकृति वह पुस्तक है, जिसके चप्पे-चप्पे, अणु-अणु और कण-कण पर परमात्मा द्वारा किया हुआ भाष्य अंकित है। वेद का स्वाध्याय करनेवाले के लिए आवश्यक है कि उसके भाष्य को सम्मुख रखकर अध्ययन करता चला जाए। वर्तमान युग प्रकृति से दूर होता जा रहा है। जहाँ हम बस रहे हैं, वहाँ कृत्रिमता का साम्राज्य है। वहाँ हम अपने ही हाथों परमात्मा द्वारा किये भाष्य को मिटा चुके हैं। अतः मूल का अर्थ समझना कठिन हो रहा है। इसलिए स्वाध्यायशील व्यक्ति को चाहिए कि वह अध्ययनार्थ ग्राम और नगर से दूर चला जाए।

स्वाभाविकता के आवरण में

स्वाध्याय के लिए स्थान का महत्त्व दर्शाते हुए तैत्तिरीय आरण्यक (२-११) में लिखा है कि ब्रह्मयज्ञ करनेवाले को इतनी दूर पूर्व-उत्तर या उत्तर-पूर्व में कि जहाँ गाँव के घरों के छप्पर दिखाई न दें, ऐसे एक पूत स्थान पर बैठना चाहिए। अपने दोनों हाथों को स्वच्छ कर ले। तीन वार आचमन करे। हाथ को जल से दो बार धोवे। दर्भ की वड़ी चटाई बिछाकर उसपर पूर्वाभिमुख हो पद्मासन पर बैठ जाय।

विप्र का जन्म-स्थान

स्थान का महत्त्व बताते हुए भगवती श्रुति ने कहा है—**उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धिया विप्रो अजायत** (यजुर्वेद-अ० २६.१५) यहाँ विप्र के जन्म की बात कहते हुए भगवती श्रुति

का कहना है कि विप्र धारणावती बुद्धि से जन्म पाता है और धारणावती बुद्धि का उद्भव **उपह्वरे गिरोणां संगमे चनदीनाम्**— पर्वतों की तलहटियों और नदियों के संगम पर होता है।

अतः यह बात वेद से भी प्रमाणित हो गई कि धारणावती बुद्धि के विकास के लिए, उसके स्फुरण के लिए स्थान का अत्यधिक महत्त्व है। इसलिए प्राचीन-काल के आश्रमों का वर्णन पढ़ने से ज्ञात होता है कि उनका स्थान पर्वतों की उपत्यकाओं में अथवा नदियों के संगम पर हुआ करता था। आज बड़े-बड़े नगरों में भी इसकी आवश्यकता अनुभव की जाती है। तभी कहीं कृत्रिम पर्वत, कहीं कृत्रिम प्रपात और स्रोत बनाए जाते हैं। परन्तु उनमें स्वाभाविकता कहाँ ? पर्वतों और नदियों को नगरों में लाने की अपेक्षा यह अधिक उचित है कि जहाँ पर्वत और नदियाँ हों, वहाँ चला जाए जिससे मेधा का विकास हो और राष्ट्र में मेधावी जन उत्पन्न हों। अब न मेधा का विकास हो पाता है और न विप्र बन पाते हैं। आज—"**उपह्वरे गिराणां संगमे च नदीनाम्**" की जगह 'उपह्वरे फैक्ट्रीनां संगमे च गन्दी नालोनाम्' का सर्वत्र बोलबाला है। ऐसी अवस्था में मेधावी की तलाश करना दुराशा मात्र है। अब तो बात कुछ "**धिया विप्रो अजायत**" की जगह "**लिप्सया धूर्तो अजायत**" वाली दीखती है। इसी बात के महत्त्व को समझकर भगवान् मनु ने लिखा था—

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः॥मनु २-१०४॥

इसमें '**अपां समापे**' और '**अरण्यं समाहितः**' दोनों ही विधियाँ देश का निर्देश कर रही हैं। जिसे वेद में "**संगमे च नदीनां**" कहा है, उसको मनु ने **अपां समीपे** कहा है। जिसे वेद में **उपह्वरे गिरीणां** कहा है, उसको मनु ने **अरण्यं समाहितः** कहा है। इस वातावरण के महत्त्व को समझ कर ही उन्होंने इस ओर निर्देश

किया है। स्वाध्याय के लिए स्थान जितना भी प्राकृतिक हो, उतना ही उत्तम है। उद्देश्य एक ही है कि स्थान ऐसा हो, जहाँ स्वतः मन एकाग्र हो सके, चित्त की चंचलता मिट जाए और व्यक्ति स्वाध्याय-यज्ञ में निमग्न हो जाए।

परन्तु इस सूत्र को हाथ से छोड़ना ठीक नहीं कि साधन के पीछे साध्य को छोड़ दिया जाय। मुख्य और गौण का विमर्श रखना चाहिए। मुख्य के लिए गौण को छोड़ा जा सकता है, परन्तु किसी भी अवस्था में गौण के लिए मुख्य को नहीं छोड़ा जा सकता। स्वाध्याय मुख्य है, देश और काल गौण है।

काल

वातावरण में जहाँ स्थान का महत्त्व है, वहाँ काल का भी अपना महत्त्व है। काल की दृष्टि से जो ब्राह्म मुहूर्त का महत्त्व है, वह प्रातः का नहीं और जो प्रातः का महत्त्व है, वह सायंकाल का नहीं। जो एकाग्रता प्रातःकाल आती है, वह सायंकाल नहीं आती और जो सायंकाल मन की स्थिति हो जाती है, वह मध्याह्न और रात्रि में नहीं होती। इसलिए ब्रह्म-यज्ञ का वही समय रखा गया है, जब प्रकृति में भी सन्धिवेला हो, सन्ध्या। यही दोनों समय स्वाध्याय के लिए उपयुक्त हैं। फिर भी अपेक्षाकृत प्रातःकाल को सायंकाल से अधिक सात्त्विक माना जाता है। प्रातःकाल व्यक्ति "तमसो मां ज्योतिर्गमय" का प्रत्यक्ष दर्शन करता है, जबकि सायंकाल ठीक इसके विपरीत होता है। अतः स्वाध्याय के लिए काल तो प्रातः ही अत्युत्तम है। मन का सात्त्विक और एकाग्र होना आवश्यक है। इसीलिए देश और काल की अपेक्षा होती है। प्रातःकाल स्वतःसिद्ध, सात्त्विक वेला है, जबकि सायंकाल को सात्त्विक बनाना पड़ता है। प्रातः-काल प्रकृति के मुख से ही उसकी सात्त्विकता मुखरित हो रही

होती है। वृक्ष, लता, पुष्प, फल सभी में सात्त्विकता के दर्शन हो रहे होते हैं। अणु-अणु और कण-कण में अपूर्व उल्लास भरा होता है। यह सब समय का प्रभाव है। मनुष्य का मन प्रातःकाल जिस उल्लास का अनुभव करता है, वैसा किसी अन्य समय नहीं। इसलिए स्वाध्याय प्रातःकाल ही करे। इस विषय में गौण-मुख्य का अवश्य ध्यान रखे। कहीं देश और काल को मिष बनाकर स्वाध्याय ही न छोड़ बैठे! स्वाध्याय हर अवस्था में करें। प्रातः न सही, मध्याह्न में सही, मध्याह्न में न हो सके तो सायकाल सही, सायंकाल न हो तो रात्रि को कर ले, परन्तु स्वाध्याय को स्थगित न करे।

स्वाध्याय-काल का निर्णय करते हुए कर्कोपाध्याय ने लिखा है, **हन्तकाराच्च पूर्वं ब्रह्मयज्ञस्यावसरः नृयज्ञो हि हन्तकारादिरास्वापात्**—हन्तकार से पूर्व पूर्व-स्वाध्याय का समय है। अतिथियज्ञ में ही हन्तकार का उच्चारण किया जाता है और अतिथियज्ञ का समय रात्रि-शयन से पूर्व का है, क्योंकि अतिथि के आने का कोई निश्चित समय नहीं। वह ठहरा अ-तिथि, उसके आने का क्या ठिकाना, कब आ जाए! वह सोने के समय भी आ सकता है। जिस समय भी अतिथि आये उसका सत्कार किया जाना चाहिए, क्योंकि यजमान के घर अतिथि का भूखे रहना ठीक नहीं—**नास्यानश्नन् गृहे वसेत्**। अतिथियज्ञ से पहले-पहले स्वाध्याय का समय है। अतिथि की प्रतीक्षा सोने से पहले तक की जा सकती है। अतः उससे पहले स्वाध्याय हो जाना चाहिए। स्वाध्याय-समय में इतनी ढील देने का एकमात्र उद्देश्य भी यही है कि स्वाध्याय स्थगित न हो।

तैत्तिरीयारण्यक (२-१२) का कहना है कि यदि व्यक्ति बाहर न जा सके, तो वह गाँव में ही स्वाध्याय कर ले, यदि दिन में

स्वाध्याय न हो सके तो रात्रि में स्वाध्याय कर ले, यदि बैठकर न कर सके तो खड़ा रहकर या लेटकर स्वाध्याय कर ले। शतपथ-कार तो लिखते हैं "यदि कोई व्यक्ति सुगन्धित तेल लगाकर शृंगार किये हुए यथेष्ट भोजन करके तृप्त हुआ गुदगुदे बिछौने पर लेटा हुआ भी स्वाध्याय कर रहा है, तो जानो वह नखाग्र-पर्यन्त तप कर रहा है।"

मनोभूमि

वातावरण से अभिप्राय बाह्य जगत् भी है, अन्तर्जगत् भी। जहाँ देशकाल की परिशुद्धि आवश्यक है, वहाँ मन, बुद्धि, चित्त की शुद्धि भी आवश्यक है। मन की व्यग्रता, खिन्नता स्वाध्याय के लिए एक महती बाधा है। भगवान् मनु ने जहाँ **"अपां समीपे"** और **"अरण्यं समाहितः"** में स्थाननिर्देश किया है वहाँ **"नियतो-नैत्यिकं विधिमास्थितः"** में अन्तर्जगत् के पवित्र करने पर बल दिया है। अन्यत्र स्वाध्याय की फलता के लिए **"विधिना नियतः शुचिः"** में भी यही बात देखने में आती है। इसमें नैत्यिकं विधिम् और विधिना में स्वाध्याय के लिए जहाँ उत्तम विधि और नैत्यिक विधि का निर्देश है, वहाँ नियतः, आस्थितः और शुचिः में अन्तर्मन के पवित्र करने की बात कही गई है। स्वाध्याय करनेवाले को ये तीन गुण अवश्य धारण करने चाहिएँ।

नियत :

नियतः शब्द के कई अर्थ हैं। यथा नित्यः, बद्धः, नियतेन्द्रियः, संयुक्तः, निश्चितः इत्यादि। यह शब्द "नि" पूर्वक "यम" धातु से क्त प्रत्यय करके बना है, जिसका अर्थ नियमन वा नियंत्रण है और इसी में उपर्युक्त सभी अर्थ समाविष्ट हो जाते हैं, अर्थात् स्वाध्यायशील व्यक्ति का हर काम नियत होना चाहिए, नित्य

होना चाहिए, निश्चित होना चाहिए; और यह तभी संभव है जब वह अपने पर नियमन वा नियन्त्रण रखे। उसके हर कार्य के नियत होने के अर्थ हैं, स्वाध्याय का स्थान नियत हो, समय नियत हो, पाठ्य-ग्रन्थ नियत हों और पाठ्यविधि नियत हो, साथ ही स्वाध्यायशील व्यक्ति का मन भी नियत हो।

स्थान के नियत होने से मन की एकाग्रता में सहायता मिलती है। नियत स्थान पर पहुँचते ही मस्तिष्क अपना कार्य करने लगता है। जो ऊहा अन्यत्र सुप्त थी, वह नियत स्थान पर आते ही स्फुरित हो उठी। साधक-जन कहते हैं कि स्थान के नियत कर लेने से वहाँ के कण-कण में, लहर-लहर में एक ही विचार समा जाता है। आने वाले दिन फिर वही एक विचार साधक के मन को प्रभावित करने लगता है, व्यक्ति का मन एकाग्र हो जाता है और अगला कार्य स्वयं होने लगता है।

यही बात नियत समय के लिए कही जा सकती है। जैसे-जैसे नियत काल समीप आने लगता है, व्यक्ति का मन तैयार होने लगता है, वैसे-वैसे सावधान होकर वह अन्य कार्यों को समेट लेता है, जिससे नियत समय में बाधा न आने पाए। उसकी मनोभूमिका तैयार होने लगती है। वह सोचने लगता है कि मुझे अभी अपने नित्य कर्म में जुटना है, स्वाध्याय का नियतकाल आ रहा है, तैयार हो जाओ।

समय के नियत हो जाने का एक और लाभ यह होता है कि उसके कार्य में स्थिरता और नित्यता आ जाती है। इसका कारण स्पष्ट है कि जब व्यक्ति के स्वाध्याय का काल नियत हो तो परि-वार का हर छोटा-बड़ा सदस्य ध्यान रखता है कि अब पिताजी के स्वाध्याय का समय है, इन्हें कुछ कहना अथवा छेड़ना ठीक नहीं। साथी, सहयोगी, मित्र, बन्धु-बान्धव—सभी परिचित हो जाते हैं कि यह समय स्वाध्याय के लिए नियत है। अतः बजाय बाधक

बनने के ये सभी साधक हो जाते हैं।

इस बात की साक्षी इस्लाम की एक विधि में मिलेगी और उसका एकमात्र कारण समय का नियत होना है। उनका कोई कार्य नियत हो वा न हो, परन्तु नमाज़ का समय तो नियत है, निश्चित है। उसमें कोई हेर-फेर नहीं। इसका परिणाम है कि मुसलमानों की नमाज़ में कोई चीज़ बाधक नहीं हो पाती। बाधक तो क्या, साधक ही बन जाती है। हमने यात्री-गाड़ियों को स्टेशन पर इसलिए रुके देखा है कि कुछ नमाजी-नमाज़ पढ़ रहे हैं। नमाज़ का समय नियत है, गाड़ी का नियत समय टल सकता है। गाड़ी का अनियत होना कोई नई बात नहीं, यह तो आये दिन होता हा रहता है, आज ही हो गया तो क्या अन्धेर आ गया ! क्या जुम्मे की नमाज़ के समय सरकारी दफ्तरों का काम इसलिए नहीं रुक जाता कि यह कुछ के नमाज का समय है ? यह है प्रभाव समय के नियत होने का।

अतः स्वाध्याय का समय भी नियत होना चाहिए। स्थान में कदाचित् अनियतता सह्य हो, परन्तु समय की नियतता अनिवार्य है।

ग्रन्थ नियत हों

जहाँ स्वाध्याय का स्थान नियत हो, काल नियत हो, वहाँ पाठ्य ग्रन्थ भी नियत हों। ऐसा न हो कि कुछ पृष्ठ एक ग्रन्थ के पलटे, कुछ दूसरे के, फिरतीसरा उठा लिया, पूर्णतया पढ़ा एक भी नहीं। इससे क्या होगा कि व्यक्ति के स्वाध्याय में स्थिरता न आ पायेगी औरउसका स्वाध्याय कभी स्थायी और ठोस न हो सकेगा, जानदार न हो सकेगा। मन की चंचलता की भाँति उसके सिद्धान्त भी चंचल रहेंगे। जिस ग्रन्थ को भी उठाया कि कुछ पन्ने उलट-फेर कर रख दिया; जब उसने ग्रन्थ का अन्त ही सिद्ध नहीं किया,

तो फिर सिद्धान्त ही क्या निश्चित कर पायेगा ? अतः स्वाध्याय के लिए ग्रन्थ भी नियत और विधि भी नियत हो। स्वाध्याय शब्द का अर्थ दिखाते हुए हम यह बता आये हैं कि अध्याय शब्द का अर्थ वेद है। अतः स्वाध्यायशील व्यक्ति का नियत पाठ्य-ग्रन्थ वेद है। जब व्यक्ति नियत होकर नियत अध्याय ग्रन्थ वेद को आद्योपान्त पढ़ेगा, तभी कह सकेगा कि मेरा यह नियत सिद्धान्त है, निश्चित मत है, क्योंकि मैंने वेद का अन्त देख लिया है, मैं वेदान्त को जान पाया हूँ, सिद्धान्त समझ गया हूँ।

ग्रन्थ के नियत होने का एक और भी लाभ होता है कि व्यक्ति का ध्यान नियत ग्रन्थ के नियत विषय पर केन्द्रित हो जाता है। नियत समय के अतिरिक्त जब-जब भी समय मिलता है, मन उसी का चिन्तन करने लगता है जिससे तारतम्य निरन्तर बना रहता है। चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते ही विचार आता रहता है, चिन्तन-सूत्र में काल-क्षण पिरोया जाने लगता है और नियत समय आते ही वह सूत्र कतने लगता है (परन्तु यह तभी होता है जब नियत ग्रन्थ की कपास हाथ से न छूटे)। जब तक एक ग्रंथ को आद्योपान्त न पढ़ लें, तब तक दूसरे ग्रन्थ को हाथ न लगाएँ।

इसके लिए अत्यन्त धैर्य्य की आवश्यकता है। कहीं मन उचाट न हो जाए, ऊब न जाए, बोर न हो जाए, इसलिए विधि भी नियत होनी चाहिए। इसीलिए भगवान् मनु ने लिखा है **नैत्यिकं विधिमास्थितः**। मन नित्य की जानेवाली विधि में स्थित हो, दृढ़ हो। यहाँ 'आस्थित' शब्द ने 'नियतः' के अर्थ में चमत्कार पैदा कर दिया है। नियत व्यक्ति ही आस्थित हो सकता है और आस्थित व्यक्ति ही सब ओर से स्थित, निवृत्त और नियत हो सकता है — **नैत्यिकं विधिमास्थितः**।

नित्यविधि

विधि शब्द का अर्थ है विधान, कारण। 'विदधाति-(अनेन) स्वाध्यायमिति विधिः।' जो किसी भी कार्य को विशेषतया धारण किये रहता है उसे ही कारण, विधान अथवा विधि कहते हैं। इसीलिए हर आचरण की विधियाँ बनी हैं। स्वाध्याय की भी विधियाँ हैं। कहीं-कहीं तो वे अत्यन्त जटिल हो गई हैं और कहीं-कहीं अत्यन्त शिथिल। कहीं तो हम यह लिखा हुआ पाते हैं कि नगर वा ग्राम से दूर चला जाए, पूर्वाभिमुख हो आचमन और मार्जन करके पद्मासन पर बैठकर अपने वाम हाथ को दक्षिण पैर पर रखकर करतल को दाहिने करतल से ढककर और दो हाथों के बीच दर्भ को रखकर स्वाध्याय करे। अन्यत्र लिखा पाते हैं कि यदि बाहर न जा सके तो उसे गाँव ही में, दिन या रात्रि में, स्वाध्याय कर लेना चाहिए। यदि वह बैठ न सके तो खड़े होकर या लेटे ही लेटे स्वाध्याय करना चाहिए, क्योंकि स्वाध्याय करना मुख्य है, देश-काल और विधियाँ गौण हैं। इन विधि-नियमों में शिथिलता इसलिए की गई है कि कोई इन्हें ही मिष बनाकर स्वाध्याय को ही स्थगित न कर बैठे। कहीं कहने लगे कि यहाँ अपां सामीप्य नहीं था, इसलिए स्वाध्याय नहीं कर सके, जल के अभाव में आचमन नहीं कर सके। बिना आचमन किये स्वाध्याय कैसे करते ? विधि-नियमों में शिथिलता लाने का तात्पर्य केवल स्वाध्याय में सबको प्रवृत्त करना है और विधि-नियमों में कठोरता लाना स्वाध्याय को परिष्कृत और परिमार्जित करने के उद्देश्य से होता है।

विधि में केवल बाह्य आचार सम्मिलित नहीं है, अपितु जिस ग्रन्थ का अध्ययन करें, उसका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन ही विधि कहाता है। व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि का ज्ञान भी आवश्यक है। परन्तु गौण और मुख्य का ध्यान रखना आवश्यक है, साधन और साध्य का ध्यान रखना आवश्यक है। कहीं अङ्गोपाङ्ग

के मोह में आत्मा की अवहेलना न हो जाय ! व्याकरण, निरुक्त, छन्द, आदि अङ्गापाङ्ग शरीर हैं और वेद (अध्याय) आत्मा है। यह तो सह्य हो सकता है कि शरीर में आँख न हो, परन्तु यह कदापि सह्य नहीं कि शरीर में आत्मा ही न हो। यह तो सह्य हो सकता है कि व्यक्ति व्याकरण का पण्डित न हो, परन्तु यह कैसे सह्य हो सकता है कि व्यक्ति स्वाध्याय से शून्य हो ? स्वाध्याय आवश्यक है, वह पुनः विधिपूर्वक साङ्गोपाङ्ग हो तो अत्युत्तम।

स्वाध्यायशील व्यक्ति यह न सोचे कि मुझे इतने पृष्ठ वा इतने अध्याय समाप्त करने हैं। वह तो यह देखे कि जितना करना है, वह मनन और निदिध्यासनपूर्वक करना है, फिर उसकी मात्रा स्वल्प ही क्यों न हो। जो पढ़े, जितना पढ़े, उसमें तल्लीन होकर पढ़े, शब्द-शब्द में पैठने का प्रयत्न करे। इस प्रकार नित्य स्वाध्याय करने से वेद स्वयं अपना रहस्य प्रकट करने लगते हैं।

अध्ययन करते हुए यह विचारना चाहिए कि इस स्थल पर अमुक शब्द ही क्यों रखा गया है ? यदि इसके स्थान पर अन्य पर्यायवाची शब्द रख दिया जाता, तो क्या हानि हो जाती ? व्यक्ति स्वयं इसके स्थान पर पर्यायवाची शब्द रखकर देखे तो ज्ञात होगा कि मानो मूल की आत्मा निकल गयी। इसलिए वेद में अनुक्रम, आनुपूर्वी का ध्यान रखते हुए शब्द-शब्द और अक्षर-अक्षर की रक्षा की गई है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन करना अपराध माना गया है। शाखाग्रन्थों में ऐसा किया भी गया है। वह सब अपने-अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए ही किया है। परन्तु संहिता-भाग में ऐसा नहीं होने दिया गया, अन्यथा इस धांधली का कहीं भी अन्त न होता। फिर तो ग्रन्थ का ही अन्त हो जाता, उसका मूल रूप ही बिगड़ जाता। इसलिए मन्त्र-मन्त्र में पैठकर, शब्द-शब्द में घुसकर, अर्थ जानने का यत्न करना चाहिए।

इसी बात को उदाहरण से स्पष्ट करते हैं।

आइए, हम दो पर्य्यायवाची शब्दों का विवेचन करके देखें। वे दो शब्द हैं नर और जन। ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। परन्तु गहन विचार करने से इन दोनों शब्दों का महत्त्व कुछ स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाएगा। नर शब्द का अर्थ है नेता, ले चलनेवाला, जबकि जन शब्द का अर्थ है वह व्यक्ति जिसका प्रादुर्भाव मात्र हुआ है, जो जना गया है। वास्तव में दोनों ही शब्द मनुष्य अर्थ के वाचक हैं, परन्तु नर शब्द में जो ओज है, वह जन शब्द में कदापि नहीं। कौन चाहेगा कि कोई उसे यह समझे कि वह तो नाममात्र का इन्सान है, बस जैसे-तैसे जना गया, उसे यह चोला मिल गया इत्यादि। प्रत्येक व्यक्ति नर कहलाने में गौरव अनुभव करेगा; नर कहलाते ही उसमें नेतृत्व का भार संचार करने लगता है कि वह नयन का सामर्थ्य रखता है। यह सब शब्दों की 'मीमांसा' का परिणाम है।

शब्द का अर्थ

नर शब्द का अर्थ नेता है। यह कैसे जाना गया? क्या नयार्थक "नृ" धातु के प्रयोग से? नहीं, केवल इतने मात्र से नहीं। यों तो नय अर्थवाली धातुएँ और भी हैं, जिनका अर्थ भी ले चलना ही है। फिर अनेक शब्दों के निर्माण की क्या आवश्यकता थी? एक ही "नय" अर्थवाली धातु से एक शब्द बना लिया जाता, जो नेता का वाचक होता। व्यर्थ का अर्थभार तो न ढोना पड़ता। नहीं, ऐसा समझना भूल होगी। एक अर्थ के देनेवाले बहुत-से शब्दों का अपना महत्त्व होता है। वे सभी शब्द अपने अर्थ के भिन्न-भिन्न रूपों पर प्रकाश डालते हैं। जैसे यही "नर" शब्द है, जिसका अर्थ है ले-जानेवाला। जो ले जाता है वह "नर" है। इसी प्रकार अग्नि शब्द है, जिसका अर्थ है कि "अग्रे नयति इति अग्निः" जो आगे ले जाती

हो वह अग्नि। अब ये दोनों शब्द ही एक अर्थ के वाचक हो गये। दोनों का अर्थ है ले जानेवाला "नेता"। फिर सोचिए कि इन दो शब्दों की क्या आवश्यकता थी? ये दोनों शब्द नेता के भिन्न-भिन्न रूपों पर प्रकाश डालते हैं। इन दोनों ने ही नेता की व्याख्या कर दी। "अग्नि" शब्द ने कहा कि नेता वह है, जो आगे ले जाए (अग्रे नयति इति अग्निः)। पीछे हटानेवाले को नेता न कहेंगे। जो लक्ष्य की ओर न ले जाकर लक्ष्य भ्रष्ट करा दे, वह नेता नहीं हो सकता, यह नेता की व्याख्या "अग्नि" शब्द में निहित है।

अब आइए "नर" शब्द का अर्थ देखें। आगे कौन ले जा सकता है? जो नर हो। न रमते इति नरः, जो फल में आसक्त न हो, लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए मार्ग के प्रलोभन उसे लिप्त न कर सकते हों। जो आसक्त हो गया, वह क्या आगे ले जायगा? वह नेता नहीं बन सकता। इसलिए "अग्नि" शब्द जहाँ नेता के साध्य की घोषणा करता है, वहाँ "नर" साधन की घोषणा करता है।

नेता कौन है? जो लक्ष्य की ओर ले चले। नेता कौन बन सकता है? जो मार्ग के प्रलोभनों में आसक्त न हो। ले चलना साध्य है, आसक्त न होना साधन है। जिस प्रकार इन दोनों शब्दों में उक्त भाव निहित है, इसका विवेचन करना ही मनन और निदिध्यासन है।

वेद से वेद का अर्थ

जो लक्ष्य की ओर जाते हुए फलों में आसक्त नहीं होता, वही नेता है। यह भाव नर शब्द में कहाँ निहित है। "नृ नये" धातु का अर्थ तो ले जाना मात्र है। फिर प्रलोभन में "लिप्त न होना" कहाँ से हो गया? आइए, विचार करें।

नर शब्द में आये हुए दोनों अक्षर "न" और "र" पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि ऐ नेता! भूलकर भी 'न होना'। क्या?

लिप्त। 'न' का अर्थ हुआ न होना, 'र' का अर्थ हुआ लिप्त। नर का अर्थ हुआ 'न लिप्त होना'; तो नेता कौन है ? जो प्रलोभनों में लिप्त नहीं होता। **"न रमते इति नरः"** यह अर्थ अवश्य ही नैरुक्त प्रक्रिया का आश्रय लेकर किया गया है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इस अर्थ का कोई आधार नहीं। स्वयं वेद ही इसका आधार है। नर शब्द की यही व्याख्या वेद ने की है। यजुर्वेद के ४०२१ में कहा है—**"न कर्म लिप्यते नरे।"** इसमें से कर्म शब्द को हटाकर देखिए तो वही अर्थ होगा, जो हमने किया है। **न लिप्यते इति नरः।** नहीं लिप्त करते हैं जिसे, नहीं बाँधते हैं जिसे, वही नर है। यह हुआ वेद से वेद का अर्थ।

इसी प्रकार दूसरा शब्द "अग्नि" लीजिए। इसके अर्थ में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। जो आगे ले जाए वह अग्नि है। यहाँ हम प्रसिद्ध मन्त्र ही उद्धृत करते हैं। मन्त्र है, **अग्ने ! नय सुपथा राये**—इसमें 'राये' पद लक्ष्य है, वही अग्र है। उसकी ओर जो ले जाता है, वह अग्नि है। इसमें अग्नि शब्द का निर्वचन हो क्या –(राये) अग्रे नय कथं ? त्वं 'अग्निरसि' इति। इसमें आये हुए सुपथा ने इसकी और व्याख्या कर दी कि वह ऐसे पथ से ले जाता है, जिसमें कोई प्रलोभन नहीं कि आसक्त हुआ जाए। इन दो शब्दों की विस्तृत व्याख्या इसलिए की गई है कि स्वाध्यायी स्वयं इस प्रकार शब्द-शब्द में प्रवेश करने का अभ्यासी बने।

जन शब्द का अर्थ

एक ही अर्थ के वाचक दो पर्यायवाची शब्दों की क्या विशेषता है, यह आरम्भ में हमने नर और जन शब्दों के अर्थों से स्पष्ट करनी चाही थी। उनमें से नर शब्द की व्याख्या हो गई। वेद के नर शब्द का अर्थ वेद से दिया गया। जन शब्द का अर्थ अवशिष्ट

है यह भी वेद से स्पष्ट होना चाहिए।

जन शब्द का स्थूलार्थ है प्रजनन द्वारा अस्तित्व में आया हुआ। उसके सामने कोई लक्ष्य नहीं, जो अविद्याग्रस्त कर्महीन जीवन व्यतीत कर रहा हो। जन शब्द की यही व्याख्या स्वयं वेद ने की है। यजुर्वेद ४०-३ में लिखा है, **ये के चात्महनो जनाः।** यहाँ आया हुआ 'च' पद जन को नर से सर्वथा पृथक् छाँट रहा है। नर वह है जो लिप्त नहीं होता और जन वह है जो आत्महनन करता है। सारे अध्याय में इन्हीं दो प्रकार के व्यक्तियों का वर्णन है। नर विद्या की उपासना करते हैं, तो जन अविद्या की उपासना। नर संभूति की उपासना में लगे हैं, तो जन असंभूति की उपासना में लगे हुए हैं। नर आत्मज्ञ हैं, तो जन पात्र की हिरण्मयता पर ही मुग्ध हैं। नर निष्काम कर्म करते हैं, तो जन फलासक्त हैं। इस प्रकार यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय (वेद) का अध्ययन नर और जन शब्द को समझ लेने से होगा। हमने यह यथामति स्वाध्याय-विधि पर प्रकाश डाला है। आशा है विज्ञ स्वाध्यायी इस पद्धति का अनुसरण कर स्वाध्याय में प्रवृत्त होंगे।

तैत्तिरीय उपनिषद् के शिक्षाध्याय के नवम अनुवाक् में स्वाध्याय और प्रवचन की महिमा में जो कुछ लिखा है, उससे भी यह ज्ञात होता है कि स्वाध्याय-प्रवचनकर्त्ता को किन बातों का ध्यान रखना चाहिए। इस नवम अनुवाक् में **"स्वाध्याय-प्रवचने च"** की बारह बार आवृत्ति हुई है। वहाँ हर आवृत्ति में एक-न-एक तत्त्व को साथ नत्थी कर दिया गया है, यथा :

ऋतञ्च स्वाध्याय-प्रवचने च। सत्यञ्च स्वाध्याय-प्रवचने च। तपश्च स्वाध्याय-प्रवचने च। दमश्च स्वाध्याय-प्रवचने च। शमश्च स्वाध्याय-प्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय-प्रवचने च। अग्निहोत्रञ्च स्वाध्याय-प्रवचने च।

अतिथयश्च स्वाध्याय-प्रवचने च।

मानुषञ्च स्शाध्याय-प्रवचने च। प्रजा च स्वाध्याय-प्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्याय-प्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय-प्रवचने च।

यहाँ ऋत, सत्य, तप, दम, शम आदि गुणो को स्वाध्याय और प्रवचन के साथ जोड़ने के दो उद्देश्य हैं। प्रथम तो यह कि ऋत, सत्य, तप आदि करते हुए स्वाध्याय और प्रवचन करे। दूसरे यह कि स्वाध्याय और प्रवचन करते हुए ऋत, सत्य तप, शम, दमादि नियमों को जाने। जहाँ ऋत, सत्य, तप आदि को स्वाध्याय का साधन बनाए, वहाँ स्वाध्याय का साध्य भी इन्हें ही बनाए। स्वाध्याय का फल ऋत की खोज हो, इत्यादि। स्वाध्याय से ऋत नियमों को जाने, स्वाध्याय से सत्य नियमों को जाने। पठन-पाठन का एकमात्र उद्देश्य यही है कि इस विश्व में जितने भी ऋत, सत्य, तप, दम आदि नियम हैं, उनको जाने और उनके ज्ञान से स्वाध्याय को परिष्कृत करे।

सृष्टि उत्पत्ति हुई के विषय में आता है कि अभीद्ध तप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति हुई। बस, स्वाध्याय का उद्देश्य यह जानना हो गया कि अभीद्ध तप क्या है, जिससे ऋत और सत्य पैदा हुए। पृथिवी (राष्ट्र) की धारणात्मिका शक्तियों का वर्णन करते हुए लिखा है कि बृहत् सत्य, ऋत, उग्र, दीक्षा, तप, ब्रह्म, यज्ञ, ये सात तत्त्व पृथिवी को धारण कर रहे हैं तो स्वाध्यायशील का कर्तव्य है कि वह यह खोज करे कि पृथिवी को धारण करनेवाले ऋत, सत्य, तप आदि तत्त्व क्या हैं? राष्ट्र को धारण करनेवाले ये ऋत, सत्य, तप आदि क्या हैं? सृष्टि को धारण करनेवाले ऋत सत्य, तप आदि आदि क्या हैं?

यही बात उपर्युक्त उपनिषद्-वाक्य में अन्तर्गूढ़ है। वहाँ जो हर नियम के साथ स्वाध्यायप्रवचने जुड़ा हुआ है, उसका उद्देश्य यही है कि इन नियमों का पालन करते हुए स्वाध्याय करे और स्वाध्याय से इन नियमों को जाने।

ऋत, सत्य, तप

ऋत, सत्य और तप का त्रिक् बहुधा देखने में आता है। इनका परस्पर कुछ सम्बन्ध है। ऋत उन नियमों को कहते हैं जो अपरिवर्तनीय हैं, नित्य हैं, जिनमें कोई परिवर्तन न हो सकता हो। सत्य उस कार्य को कहते हैं, जो ऋत नियमों का परिणाम हो। तप उसे कहते हैं, जो ऋत नियमों को धारण किये रहें; सन्तुलित रखें।

यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी। प्रकृति का यह अखण्ड नियम है कि दो गैसों के मिलने से जल का निर्माण होता है। हाइड्रोजन और ऑक्सीजन ठीक परिमाण में मिलीं कि जल बना। बस, इन अखण्ड नियमों को ऋत कहेंगे और उस नियम के आधीन जो कार्यरूप जल बना, वह सत्य है। इस अखण्ड नियम को जो संधारित किये हुए है उसे तप कहते हैं, और जो ऋत, सत्य और तप का प्रयोक्ता है वह ऋत्विज् है।

स्वाध्याय का उद्देश्य है कि इस ऋत, सत्य और तप के सूत्र को जो समस्त कक्षाओं में वितत है, जाने और उनका प्रयोग करे। इसी प्रकार शम-दमादि तत्त्वों की स्वाध्याय से संगति करे।

स्वयं ऋषि बने

स्वाध्याय की तैयारी के लिए व्यक्ति को जहाँ 'नियतः, **'विधिमास्थितः'** होना चाहिए, वहाँ उसे 'शुचिः' भी होना चाहिए। नद्र अन्दर-बाहर से पवित्र हो। अन्दर-बाहर से पवित्र व्यक्ति को ा ऋषि कहते हैं। स्वाध्यायशील व्यक्ति को चाहिए कि वह जिस ग्रंथ का भी स्वाध्याय करे, उसका ऋषि बन जाए। वेदों का स्वाध्याय करनेवाले व्यक्ति के लिए तो यह बात और भी सरल है, क्योंकि वेद के प्रत्येक मन्त्र पर ऋषि-नाम का उल्लेख है। निस्सन्देह उल्लेखित नाम उन ऋषियों के हैं, जिन्होंने उन-उन मन्त्रों को प्रत्यक्ष किया है। इस नामोल्लेख के दो प्रयोजन हैं—

एक तो उन व्यक्तियों के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन और दूसरे इतिहास की सुरक्षा।

स्वाध्याय करनेवाले व्यक्ति को चाहिए कि मन्त्र पर उल्लिखित नाम को देखकर उसपर चिन्तन करे और अपनी मनो-भूमिका भी वैसी ही निर्माण करे और फिर मन्त्र का विचार करे। उस घड़ी के लिए वह व्यक्ति उस मन्त्र का ऋषि बन जाए, द्रष्टा बन जाए। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी। यदि कोई व्यक्ति ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र "**अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्**" का स्वाध्याय करेगा तो सर्वप्रथम जहाँ मन्त्र के देवता अग्नि का उल्लेख पायेगा, वहाँ वह मन्त्र के ऋषि 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः' का भी नामोल्लेख साथ ही पायेगा। अब स्वाध्यायशील व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने को विश्वामित्र का पुत्र मधुच्छन्दा बना ले। मन्त्र का दर्शन करने के लिए मधुच्छन्दा (मधुर व्यवहारवाला) बन जाए, वह अपने व्यवहार-व्यापार को मधुर बना ले। किन्तु यह तभी सम्भव है जबकि स्वाध्यायी के हृदय में विश्व के प्रति मैत्रीभाव जगे। इस प्रकार मन्त्र-मन्त्र पर लिखे हुए ऋषि नाम का भाव मन-मस्तिष्क पर लाये, फिर देखे कि उसे मन्त्र का साक्षात्कार होने लगा है या नहीं।

वेद के वर्तमान युग के ऋषि

यदि वर्तमान युग में किसी व्यक्ति ने मन्त्र का साक्षात्कार किया हो, तो उस-उस मन्त्र पर उसका नामोल्लेख अवश्य होना चाहिए। यथा वर्तमान युग के द्रष्टा महर्षि दयानन्द ने

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया (ऋ० १-१६४-२०)
यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः (यजु० २६-२)
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः (यजु० ३१-११)

इत्यादि मन्त्रों का साक्षात्कार किया है, अतः इन मन्त्रों पर ऋषि दयानन्द का नामोल्लेख होना चाहिए। जहाँ यह उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन होगा, वहाँ यह इतिहास भी सुरक्षित रहेगा कि "द्वा सुपर्णा" मन्त्र ने त्रैतवाद के प्रतिपादन में कितना योगदान दिया। **यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः** (यजु० २६-२) मन्त्र ने उन सभी प्रतिवन्धों को तोड़ने में महर्षि दयानन्द का योग-दान दिया, जो धर्म के ठेकेदारों ने **स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम्** आदि को आधार वनाकर लगा रखे थे। **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्** मन्त्र ने तो अमोघास्त्र का काम किया, जिससे जन्मगत जात-पाँत पर आधारित समाज-दुर्ग पर प्रहार किया गया। मुक्ति से पुनरागमन के प्रत्यक्ष दर्शन ने वेद-मूलक प्रतिपादित किया है -

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरञ्च॥
(ऋ० १-२४-१)

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरञ्च दृशेयं मातरञ्च॥
(ऋ० १-२४-२)

इस प्रकार स्वाध्यायशील व्यक्ति यदि **यथेमां वाचं कल्याणीम्** (यजु० २६-२) पर दयानन्द का नामोल्लेख पायेगा, तो सर्वप्रथम अपने को दया और आनन्द से युक्त करेगा और देखेगा कि वह भी शास्त्रार्थ-समर में उस मोर्चे का एक सैनिक है, जो वेदों पर एका-धिकार के विरुद्ध लड़ा जा रहा है। वह भी मनुष्यमात्र के लिए वेद का द्वार खोलेगा। वह सच्चा द्रष्टा वन जायेगा। भाव यह कि मन्त्र का अध्ययन करते हुए मन्त्रोल्लिखित ऋषि के समान अपनी मनोभूमिका वनानी चाहिए। तत्पश्चात् उस मन्त्र को पढ़ें, देखें, कि मन्त्र अपना रहस्य स्वयं कैसे खोलता है! ●●

स्वाध्याय-वृत्त

वृत्तान्त क्षेत्र विस्तार दिङ्मात्रम्

अन्त में पाठकों के लाभार्थ कुछ ग्रन्थों की सूची दे देना आवश्यक समझता हूँ, जिससे वे अपनी रुचि और योग्यता के अनुरूप ग्रन्थ का चयन कर सकें। इसमें जहाँ वेद और वैदिक साहित्य-सम्वन्धी ग्रन्थों का उल्लेख होगा, वहाँ इतिहास और पुराण से सम्बन्धित साहित्य का भी उल्लेख होगा। मेरी इच्छा है कि पाठक वर्षभर का स्वाध्याय-वृत्त वना लें और उसके अनुरूप स्वाध्याय करें। स्वाध्याय-वृत्त बनाने के लिए भी कुछ कठिनाई नहीं, पर्वों को आधार वनाकर स्वाध्याय-वृत्त का क्रम निर्धारित कर लें। स्वाध्याय का उपक्रम श्रावणी पूर्णिमा अथवा श्रावण मास की पंचमी से होता है, तो पाठक भी यहीं से अपने स्वाध्याय का आरम्भ करें। इसे कहते ही स्वाध्यायोपकर्मविधि हैं।

आप यह मानकर चलिए कि स्वाध्याय श्रावणी पूर्णिमा से करना है और उसकी समाप्ति माघ मास की पूर्णिमा को करनी है। यह छः मास का दीर्घ स्वाध्याय-सत्र है। वास्तव में तो जीवन-पर्यन्त ही स्वाध्याय-सत्र चलते रहना चाहिए, तो आप पूर्ण वर्ष को ही स्वाध्याय-सत्र समझ लें। इस अवस्था में आपको कोई बाधा नहीं। आप निरन्तर स्वाध्याय करते चलिए। हाँ, कुछ विचार उन ग्रन्थों के स्वाध्याय के लिए करना होगा जो इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी के अन्तर्गत आते हैं तो उसके लिए एक पृथक् अध्ययन-वृत्त बना लीजिए और उसका आधार भी पर्वों को बना-

कर ही चलिए। इस प्रकार एक स्वाध्याय-वृत्त के अन्तर्गत तो केवल वेद का ही अध्ययन अभीष्ट है और वह अखण्ड सत्र है। दूसरा अध्ययन-वृत्त खण्डशः चलेगा जिसमें इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी सभी का समावेश होगा।

अध्ययन-वृत्त

अध्ययन-वृत्त का भी आरम्भ आप श्रावण मास की पूर्णिमा से करें। इस पर्व से अगला पर्व श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी है। अतः आप श्रीकृष्णचन्द्र महाराज का जीवन-चरित्र (नाराशंसी) पढ़ें, तत्पश्चात् नवमी से आरम्भ कर आश्विन सुदी दशमी (विजय-दशमी) पर्व तक क्षत्रियोचित साहित्य, जिससे राष्ट्र में क्षात्र शक्ति को प्रोत्साहन मिले, अध्ययन करें। उसके लिए रामायण से बढ़कर अन्य उत्तम ग्रन्थ नहीं, अथवा महाभारतान्तर्गत जय नामक इतिहास, जिसका विदुला ने अपने पुत्र संजय को सन्देश दिया था (इति-ह-आस), का अध्ययन करना उपयुक्त रहेगा। विजयदशमी पर्व से अगला महत्त्वपूर्ण पर्व दीपावली आता है। इस समय को महर्षि दयानन्द जी के जीवन-चरित्र (नाराशंसी) पढ़ने में लगाएँ। दीपावली पर्व के उपरान्त, मकर-सक्रान्ति, वसन्त पंचमी, गणतन्त्र दिवस और महाशिवरात्रि पर्व आते हैं, तो दीपावली से शिवरात्रि तक लगभग चार मास का दीर्घ समय है। इसमें महर्षि दयानन्दकृत अमर ग्रथ 'सत्यार्थ प्रकाश' का अध्ययन करें, जिससे सत्यासत्य के विवेक से सच्चे शिव को प्राप्त कर सकें, इसी के प्रकाश में शिवरात्रि पर्व मनाएँ। शिवरात्रि पर्व से राम-नवमी तक रामायण का अध्ययन करें। रामनवमी से गुरुपूर्णिमा, व्यासपूजा तक महाभारतान्तर्गत 'विदुर नीति', 'भगवद्गीता', 'शान्तिपर्व', 'अनुशासन पर्व' आदि-आदि।

अब अवशिष्ट रहे एक मास के समय में उपनिषदों का

अध्ययन करें। अब आपका पुनः श्रावणी उपाकर्म आ गया। इस अध्ययन-वृत्त को बनाते हुए यह आवश्यक नहीं कि जो कुछ मैंने कहा है वही अन्तिम निर्णय है। नहीं, कदापि नहीं। आप अपनी सुविधानुसार चुनाव कर सकते हैं। बीच-बीच में उपपर्व भी आते रहते हैं, यथा सीताष्टमी, हनुमान जयन्ती, लेखराम-तृतीया, श्रद्धानन्द-बलिदान-दिवस आदि-आदि, इन उपपर्वों पर महानुभावों के जीवन-चरित्र भी पढ़ने चाहिएँ।

●●●

स्वाध्याय ग्रंथ

वैदिक प्रबन्ध-साहित्य :

१. ऋग्वेद और यजुर्वेद का भाष्य — महर्षि दयानन्द
२. ऋग्वेद का अवशिष्ट भाष्य — आर्यमुनि
३. यजुः संस्कार भाष्य — श्री भगवदाचार्य
४. सामवेद भाष्य — तुलसीराम स्वामी
५. सामवेद भाष्य — आचार्य वैद्यनाथ
६. साम संस्कार भाष्य — श्री भगवदाचार्य
७. अथर्ववेद भाष्य — पं० क्षेमकरण दास
८. अथर्ववेद भाष्य — पं० सातवलेकर
९. वेद व्याख्या ग्रन्थ (१०भाग) — स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'
१०. ऋग् यजुः साम अथर्व भाष्य — पं० जयदेव चतुर्वेद भाष्यकार

वैदिक मुक्तक-साहित्य :

११. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका — महर्षि दयानन्द
१२. आर्याभिविनय — महर्षि दयानन्द
१३. वैदिक विनय (तीन भाग) — आचार्य अभयदेव
१४. वैदिक वन्दन — स्वामी ब्रह्ममुनि
१५. वैदिक प्रवचन — गंगाप्रसाद उपाध्याय
१६. वेदोद्यान के चुने हुए फूल — आचार्य प्रियव्रत

१७. वरुण की नौका	आचार्य प्रियव्रत
१८. वेद का राष्ट्र-गीत	आचार्य प्रियव्रत
१९. वेदामृत	स्वा० वेदानन्द
२०. स्वाध्याय-सन्दोह	"
२१. वेद मञ्जरी	पं० रामनाथ वेदालङ्कार
२२. श्रुति सौरभ	पं० शिवकुमार शास्त्री
२३. स्वाध्याय-सुमन	स्वा० वेदानन्द
२४. स्वाध्याय संग्रह	"
२५. वैदिक नारी	पं० रामनाथ वेदालङ्कार
२६. वैदिक ब्रह्मचर्य गीत	आचार्य अभयदेव
२७. ब्राह्मण की गौ	"
२८. ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता	प्रो० बालकृष्ण
२९. वेदों का यथार्थ स्वरूप	धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड
३०. सोमसरोवर	पं० चमूपति एम. ए.
३१. जीवन-ज्योति	"
३२. वैदिक सम्पत्ति	पं० रघुनन्दन शर्मा
३३. वेद के संबंध में क्या जानो क्या भूलो	पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार

अध्यात्म-साहित्य :

३४. पञ्चयज्ञ प्रकाश	पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार
३५. सन्ध्या सुमन	पं० नित्यानन्द वेदालङ्कार
३६. सन्ध्या रहस्य	पं० चमूपति एम० ए०
३७. सरल सन्ध्या विधि	पं० गंगाप्रसादजी उपाध्याय
३८. उपनिषद् समुच्चय	पं० भीमसेन
३९. ईशादि ११ उपनिषद्	श्री नारायण स्वामी
४०. एकादशोपनिषद्	सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार

४१. ईशादि उपनिषद् — पं० सातवलेकर

जीवनी-साहित्य (नाराशंसी):

४२. योगेश्वर कृष्ण — पं० चमूपति एम० ए०
४३. श्रीमद् दयानन्द प्रकाश — स्वा० सत्यानन्द जी
४४. दयानन्द जीवन-चरित्र — पं० घासीराम जी
४५. स्वामी श्रद्धानन्द — पं० सत्यदेव विद्यालङ्कार
४६. मेरे पिता — पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति,
४७. आर्यपथिक लेखराम — स्वामी श्रद्धानन्द
४८. रामायण (दस भाग) — श्री पं० सातवलेकर
४९. महाभारत मीमांसा — चिन्तामणि विनायक वैद्य
५०. महाभारत समालोचना (दो भाग) — पं० सातवलेकर
५१. महाभारत काव्य — ,,

ऋषि-साहित्य:

५२. सत्यार्थप्रकाश
५३. संस्कारविधि तथा अन्य ग्रन्थ

इत्यादि ग्रन्थों को पढ़ कर स्वाध्याय-चक्र को सार्थक कीजिएगा।

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वरशिरोमणिषु

ओ३म्

□
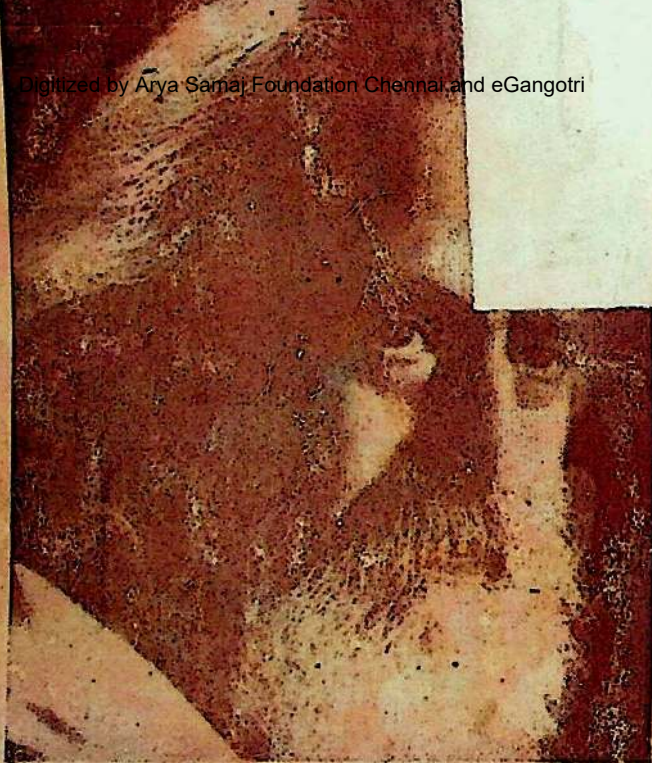
व्याख्याकार दीक्षानन्द सरस्वती

पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर् मधूदकम्॥
वेदा मे परमं चक्षुः वेदा मे परमं बलम्।
वेदा मे परमं धाम वेदा मे ब्रह्मचोत्तमम्॥
स्वाध्यायात् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय योगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥